



Van Sangyan

A monthly open access e-magazine



Tropical Forest Research Institute

(Indian Council of Forestry Research and Education)

PO RFRC, Mandla Road, Jabalpur – 482021

Van Sangyan

Editorial Board

Patron:	Dr. U. Prakasham, IFS
Vice Patron:	P. Subramanyam, IFS
Chief Editor:	Dr. N. Roychoudhury
Editor & Coordinator:	Dr. Naseer Mohammad
Assistant Editor:	Dr. Rajesh Kumar Mishra

Note to Authors:

We welcome the readers of Van Sangyan to write to us about their views and issues in forestry. Those who wish to share their knowledge and experiences can send them:

by e-mail to	vansangyan_tfri@icfre.org
or, through post to	The Editor, Van Sangyan, Tropical Forest Research Institute, PO-RFRC, Mandla Road, Jabalpur (M.P.) - 482021.

The articles can be in English, Hindi, Marathi, Chhattisgarhi and Oriya, and should contain the writers name, designation and full postal address, including e-mail id and contact number.

TFRI, Jabalpur houses experts from all fields of forestry who would be happy to answer reader's queries on various scientific issues. Your queries may be sent to The Editor, and the expert's reply to the same will be published in the next issue of Van Sangyan.

From the Editor's desk

Livelihood enhancement of tribal is one of the major potentials of sericulture and silk industry. Sericulture has emerged as the most important cash crop with minimum investment, low gestation period, high employment potential and highly remunerative return. It is well suited to the agrarian economy of the tribal. Suitable for every section of society, a big farmer or a landless, aged person or a youth, man or a woman. Involves simple technology, which is easy to understand and adopt. Sericulture has provided downstream employment and income generation in rural and semi-urban areas, high participation for low-income and socially under privileged groups. The involvement of landless rural people in sericulture is because they understood its potential for rural and tribal upliftment.



This issue of Van Sangyan contains an article on Livelihood enhancement of tribals through sericulture. There are also useful articles on - Community Forestry in India: schemes and conflict, biodiversity of butterflies at TFRl campus, infestations and control of termites, Achanakmar-Amarkantak biosphere reserve- an overview, an overview of adaptive cluster sampling in estimating rare species, gums and resins in social and livelihood need's of tribals of Central India and biodiversity of Grus antigone and Mucuna pruriens.

I hope that you would find all information in this issue relevant and valuable.

Readers of Van Sangyan are welcome to write to us about their views and queries on various issues in the field of forestry.

Looking forward to meet you all through forthcoming issues.

A handwritten signature in black ink, appearing to read 'Dr. N. Roychoudhary'.

Dr. N. Roychoudhary

Scientist G & Chief Editor

Contents	Page
1. रेशम उत्पादन: आदिवासियों की आजीविका का एक विकल्प - डॉ. राजेश कुमार मिश्रा, डॉ. नसीर मोहम्मद, आनन्द दास एवं डॉ. एन. रॉयचौधरी	1
2. Community forestry in India: schemes and conflict - Vikas Kimar	13
3. उष्ण कटिबंधीय वन संशोधन संस्थेच्या परीसरात (कॅम्पस) फुलपाखरांची जैव विविधता - डॉ. संजय पौनीकर व डॉ. नितिन कुळकर्णी	19
4. दीमक का प्रकोप एवं नियंत्रण उपाय - डॉ० पी० बी० मेश्राम	25
5. अचानकमार — अमरकंटक बायोस्फियर रिजर्व — एक परिचय - डॉ. रूबी शर्मा, डॉ. राजेश कुमार मिश्रा एवं डॉ. एन. रॉयचौधरी	33
6. An overview of adaptive cluster sampling in estimating rare species - Girish Chandra and Raman Nautiyal	37
7. Gums and resins in social and livelihood need's of tribals of central India - Dr Rajiv Rai	43
8. Know your biodiversity - Swaran Lata and Dr. P.B. Meshram	52

रेशम उत्पादन: आदिवासियों की आजीविका का एक विकल्प

डॉ. राजेश कुमार मिश्रा, डॉ. नसीर मोहम्मद, आनन्द दास एवं डॉ. एन. रॉयचौधरी

उष्णकटिबंधीय वन अनुसंधान संस्थान, जबलपुर

बंजर जमीन में वर्षों से पत्थर तोड़ मेहनत कर खेती करने वाले आदिवासी किसान इससे उब चुके हैं। अब वे रेशम के उत्पादन से जीवन रोशन करने में जुट गए हैं। ऐसा इसलिए क्योंकि पारंपरिक बाजरे, मूंग और चावल की खेती पर बेमौसम बारिश और ओलावृष्टि के कहर ने किसानों की कमर तोड़ दी है। इसके चलते उन्होंने रेशम का उत्पादन शुरू कर दिया है। इससे महिलाओं को सालभर रोजगार मिल रहा है। रेशम कीटपालन में छत्तीसगढ़ के किसानों ने अन्य देशों के किसानों को पीछे छोड़ दिया है। छत्तीसगढ़ प्रदेश टसर उत्पादन के क्षेत्र में काफी उन्नति कर चुका है।

मध्य प्रदेश में बीते 3 वर्ष में प्रदेश में टसर रेशम का उत्पादन मात्र 3000 हेक्टेयर से बढ़कर अब लगभग 24 हजार हेक्टेयर में होने लगा है। कोकून उत्पादन भी करीब 2 करोड़ से बढ़कर लगभग साढ़े आठ करोड़ हो गया है।

रेशम उत्पादन और रेशम उद्योग आदिवासियों की आजीविका का एक प्रमुख साधन है। रेशम उत्पादन कम से कम निवेश, कम अवधि, उच्च रोजगार क्षमता और अत्यधिक लाभ वाले महत्वपूर्ण नकदी फसल के रूप में उभरा है। यह आदिवासी की कृषि अर्थव्यवस्था के लिए बहुत अनुकूल है। समाज के हर वर्ग, एक बड़े किसान या एक भूमिहीन, वृद्ध व्यक्ति या एक युवा, आदमी या औरत के लिए उपयुक्त है। यह उद्योग अपनाने के लिए आसान है, इसमें सरल

प्रौद्योगिकी शामिल है। रेशम उत्पादन, ग्रामीण और अर्ध-शहरी क्षेत्रों में कम आय के लिए उच्च भागीदारी में और सामाजिक रूप से



आदिवासियों द्वारा संरक्षित फलाच्छादित शहतूत वृक्ष विशेषाधिकार प्राप्त समूह के लिए रोजगार और आय के सृजन का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। प्रस्तुत लेख में रेशम उत्पादन आदिवासी के लिए आजीविका के अवसरों को कैसे पूरा करते हैं पर प्रकाश डाला गया है। रेशम कीटपालन कम निवेश और उच्च उत्पादन की गतिविधि है।

रेशम उत्पादन झारखंड, छत्तीसगढ़, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, उत्तरप्रदेश, पश्चिम बंगाल, बिहार, महाराष्ट्र और आंध्र प्रदेश राज्यों में लगभग 1.5 लाख आदिवासी जीवन का एक अभिन्न हिस्सा है। वर्तमान में छत्तीसगढ़ में रेशम के तीन प्रकार

शहतूत, तसर और इरी उत्पादित हो रहे हैं; यहां उष्णकटिबंधीय तसर और शहतूत व्यावसायिक पैमाने पर पाला जाता है।

इसकी बदौलत मध्यप्रदेश अब टसर रेशम के उत्पादन में देश में सातवें से चौथे स्थान पर आ गया है। यह संभव हुआ है वर्ष 2009 में मध्यप्रदेश विधानसभा में पारित संकल्प-29 पर प्रभावी अमल के फलस्वरूप। पहले मध्यप्रदेश उड़ीसा, छत्तीसगढ़, आन्ध्रप्रदेश, झारखण्ड, बिहार और उत्तरप्रदेश के बाद सातवें नम्बर पर था। वर्ष 2009-10 में सिर्फ 5-6 जिले में ही टसर रेशम का उत्पादन होता था। अब प्रदेश के 32 जिलों में यह कार्य हो रहा है। इस कार्य के लिये हितग्राहियों को समुचित प्रशिक्षण भी दिया गया। प्रदेश में टसर रेशम उत्पादन का कार्य मुख्य रूप से बालाघाट, मण्डला, नरसिंहपुर, होशंगाबाद, छिन्दवाड़ा, बैतूल, सीहोर और हरदा जिले में होता है।

वन क्षेत्रों में आदिवासी लोगों को एक-एक हेक्टेयर क्षेत्र दे दिया जाता है। यह लोग वृक्षों पर अंडों को पालते हैं। इनमें से निकलने वाले कीड़ों को पेड़ों पर चढ़ा दिया जाता है। हितग्राही 35-40 दिन तक जंगल में रहकर ही इनकी रखवाली करता है। इससे कीड़ों के साथ-साथ वनों का संरक्षण भी होता है।

ककून बनाकर यह लोग रेशम-पालन विभाग को बेच देते हैं। इससे प्रत्येक हितग्राही को दो फसलों में 3-3 माह के भीतर 10 से 40 हजार रुपये तक की आमदनी हो जाती है। हितग्राही का परिवार लगभग एक लाख रुपये तक कमा लेता है। वर्तमान में लगभग 30 हजार लोग इस कार्य से लाभान्वित हो रहे हैं। इनमें करीब 80 प्रतिशत

आदिवासी हैं। इस वर्ष हितग्राहियों को लगभग 6 करोड़ रुपये दिया गया।

रेशम का इतिहास बहुत पुराना है। इसकी



शुरूआत ईसा पूर्व 5 वीं शताब्दी में चीन से हुई।

आदिवासियों द्वारा संरक्षित शहतूत बागान

चीन ने इस उद्योग करीब 200 वर्षों तक छुपाकर रखा। धीरे-धीरे यह उद्योग कोरिया, जापान, भारत, पाकिस्तान और अरब देशों तक फैला। भारत में सिंधु घाटी की सभ्यता में खुदाई से ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में चीन से व्यापार के प्रमाण मिले हैं। भारत में रेशम का चलन व्यावहारिक प्रचलन ईसा पश्चात 5 वीं शदी में शुरू हुआ। मुगल काल में भी भारत में इसका प्रचलन बढ़ा। आधुनिक भारत में वाराणसी, कोलकाता, गुवाहाटी, कांचीपुरम्, सूरत और अहमदाबाद रेशम के कपड़े के व्यापार के मुख्य केन्द्र हैं। इस समय रेशम की साड़ी और कुर्ते के कपड़े आदि का व्यावहारिक उत्पादन के केन्द्र वाराणसी और कांचीपुरम् हैं। हैंडलूम से बनने

वाली 1 साड़ी में 2 माह लग जाते हैं। भारतीय कलाकार वाराणसी में कताई, बुनाई, रंगाई के साथ-साथ कपड़ों में सूरज, चांद, सितारे, नदियां, पेड़, फूल, पक्षी, बैल, घोड़े, शेर, हाथी, मोर, हंस, बाज आदि का रूपांकन करते हैं। रेशम की साड़ी में सोने, चांदी और जरी के धागे इस्तेमाल किये जाते हैं।

भारत में रेशम के धागे बनाने का काम 19 शताब्दी में शुरू हुआ। भारत में केरल, तमिलनाडु, असम, पश्चिम बंगाल और मध्य प्रदेश में रेशम के धागे और कोया का उत्पादन होता है। मध्य प्रदेश के विदिशा, होशंगाबाद, हरदा, बुरहानपुर में बड़े पैमाने पर रेशम के कोये का उत्पादन शुरू हो गया है। विदिशा में शहतूत से कोया, कोये से धागा और धागे से रेशम के कपड़े बनाने का काम व्यवहारिक रूप से पिछले 5 दशक से हो रहा है। विदिशा के सिरोंज में रेशम के धागे से कपड़े बनाने का कारखाना है। लाखों रेशा मिलकर रेशम बनता है।

देश के कुछ राज्य अभी भी ऐसे हैं जो आधुनिकता के साथ साथ अपनी साझा संस्कृति को भी न सिर्फ संजोये हुए हैं बल्कि उसे पीढ़ी दर पीढ़ी आगे भी बढ़ाते रहे हैं। इस श्रेणी में झारखंड का भी नाम शामिल किया जा सकता है। एक तरफ प्रकृति ने इस राज्य को जहां संसाधनों से नवाजा है तो वहीं यहां के मूल आदिवासी भी आधुनिक परिवेश के बावजूद अपनी परंपरा को जिंदा रखे हुए हैं। यहां स्थापित कई प्रकार के उद्योग धंधे विशेषकर कुटीर उद्योग ने उनके जीवन को एक नई दिशा दी है। आदिवासियों की जिंदगी में रेशम उद्योग ने अहम भूमिका निभाई है। झारखंड की तीस जनजातियां तसर उपजाने में लगी है। रेशम उत्पादन में झारखंड देश में

तीसरा स्थान रखता है। लगभग साठ हजार कीट पालक रेशमदूध के रूप में अपनी आजीविका चला रहे हैं। कृषि आधारित उद्योग से लाखों परिवार को रोजगार मिला है। झारखंड के आदिवासी के जीवन शैली में वनों का एक बड़ा हिस्सा रहा है। जहां साल और आसन के पेड़ बड़ी मात्रा में पाये जाते हैं। इन्हीं पेड़ों पर रेशम के कीटों का भोजन मिलता है। इस वक्त राज्य में



रोपणी में तैयार शहतूत के पौधे

75 हजार करघे चल रहे हैं। जिसमें रेशम के धागे से कपड़े बुने जा रहे हैं। तसर उद्योग से किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार हो रहा है। वास्तव में तसर उद्योग पर्यावरण के लिए भी अनुकूल है।

रेशम का कीड़ा अंडा देता है। अंडे से लार्वा बनाता है। लार्वे से कोकून बनता है। कोकून से कोया बनता है और कोये से धागा व धागे से कपड़ा बनता है। इसकी प्रक्रिया बहुत जटिल और लंबी है। इसलिये इसका कपड़ा बहुत महंगा मिलता है। रेशम के कीड़े शहतूत की ताजा पत्ती खाकर कोया बनाते हैं। 30 हजार कीड़े मिलकर 10 क्विंटल शहतूत की पत्ती खाकर 6 किलोग्राम

कोया पैदा करते हैं। रेशम के कीड़े अपने ऊपर एक खोल बना लेते हैं और उसके ऊपर धागा बुनते हैं। यह धागा 600 से 900 मीटर लंबा होता है।

रेशम उत्पादन एक लाभदायक रोजगार है रेशम उत्पाद के लिए ऐसी सिंचित भूमि होना आवश्यक है जिस पर शहतूत के पौधों को रोपती किया जा सके। एक उद्यमी के लिए लगभग डेढ़



आदिवासी द्वारा रेशम कीट पालन

एकड़ रकबा काफी है। शहतूत के पौधों की खासियत यही है कि इन्हें कहीं भी लगाया जा सकता है। इन पौधों को न तो किसी विशेष किस्म की मिट्टी की जरूरत होती है न ही कुछ विशेष वातावरण की। इस पेड़ की पत्तियाँ रेशम के कीड़ों का मुख्य भोजन होती हैं। शहतूत में यह पत्तियाँ एक निश्चित अनुपात में निरंतर उगती रहती हैं। अतः कीड़ों के लिए भोजन की कोई समस्या नहीं रहती है। रेशम उत्पादन-औसतन 1000 कि. ग्रा. स्वच्छ कोकून सुखाने पर 400 कि. ग्रा. के लगभग रह जाता है। जिसमें से 385 कि. ग्रा. में प्यूपा 230 कि. ग्रा. रहता है और शेष 155 कि. ग्रा. शेल रहता है। इस 230 कि.ग्रा. प्यूपा में से लगभग 120 कि. ग्रा. कच्चा रेशम तथा 35 कि.ग्रा. सिल्क कचरा प्राप्त होता है। इस कच्चे रेशम से रेशम को चरखे/तकली द्वारा रोल

किया जाता है जिसे रीलिंग कहते हैं। रेशम तभी बिक्री योग्य होता है, जब उसको कपड़े के रूप में बुन लिया जाए। बुनाई हेतु कई साधन आजकल प्रचलन में हैं फिर भी हथकरघा पर बने हुए रेशम का अच्छा बाजार मूल्य मिलता है। कुछ हथकरघा जैसे सेवाग्राम करघा, नेपाली करघा, चितरंजन करघा आदि प्रमुखता से उपयोग किये जाते हैं। हमारे देश में रेशम दूत का आधा हिस्सा झारखंड से है। रेशम की मांग अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर है। इससे प्रतिवर्ष झारखंड सरकार को पचास करोड़ ₹0 विदेशी मुद्रा से प्राप्त होती है। रेशम उद्योग आज नई उचाईयों को छू रहा है। झारखंड में इको रेस के तसर सर्वाधिक पाए जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में झारखंड सिल्क को कूचाई सिल्क के नाम से जाना जाता है। झारखंड के रेशमी कपड़ों की बिक्री दिल्ली, मुम्बई एवं बेंगलुरु में झारखंड सिल्क इम्पोरियम के माध्यम से बेचे जा रहे हैं। अब तो पूरे देश के हवाई अड्डों पर सिल्क इम्पोरियम खोले जाने की योजना है। आज रेशम उद्योग में रोजगार के अवसर बढ़े हैं। झारखंड में तसर का उत्पादन वर्ष 2008-09 में 400 मेट्रिक टन हुआ है। कीट पालकों के चेहरों पर खुशी देखी जा सकती है। अर्जुन के पौधों पर तसर के कीट पालन से उत्पादन बढ़ा है क्योंकि अर्जुन के पौधों में कोकून अधिक मात्रा में होता है। आज व्यापारी कोकून को खरीदने गांव तक आते हैं। आज किसान इस पेशे से जुड़ रहे हैं। वैज्ञानिक तरीके से रेशम कीट का उत्पादन हो रहा है। तसर उत्पादन में वृद्धि लाने की दिशा में प्रयास किया जा रहा है। सिल्क के क्षेत्र में झारखंड का अपना स्थान बनता जा रहा है। रेशम के उत्पादन से वन भी तेजी से लगाए जा रहे हैं। पर्यावरण के संकट से बचने में कोकून

उत्पादन का महत्वपूर्ण स्थान है। तसर उद्योग घरेलू रोजगार की दिशा में एक सार्थक प्रयास है।

डिण्डौरी जिले की जनपद पंचायत समनापुर के ग्राम मोहगांव के किसानों की मक्का बाड़ी धीरे-धीरे शहतूत बाड़ी बनती जा रही है। इस पूरे गांव के 52 किसान अपनी बाड़ियों में मक्का के



आदिवासियों द्वारा शहतूत कीट पालन

स्थान पर शहतूत वृक्षारोपण कर अपने घरों में रेशम कीट पालन कर रेशम कोसा बना रहे हैं। डिण्डौरी जिले में कन्वर्जेंस से विकास का रेशम कीट पालन एक अनूठा उदाहरण है। सिंचाई के साधन नहीं होने से पहले इस आदिवासी बाहुल्य क्षेत्र में रेशम उत्पादन कल्पना ही लगती है। किन्तु शासकीय योजनाओं और ग्रामीण आजीविका के समन्वित प्रयास का परिणाम है कि इस क्षेत्र के लगभग 150 सौ किसान अपनी निजी भूमि पर शहतूत पौध रोपण कर रेशम कीट पालन कर अपनी आजीविका चला रहे हैं। इन हितग्राहियों से मलबरी कोया रेशम विभाग स्वयं क्रय करता है और उससे रेशम धागा निकालने की प्रक्रिया मंडला स्थित धागाकरण ईकाई में की

जाती है। वर्तमान में जिले में धागाकरण ईकाई की स्थापना प्रस्तावित कर दी गयी है।

शहतूत पौध रोपण कर रेशम उत्पादन कर रहे किसानों की जमीन कोदो कुटकी और मक्का की खेती के ही उपयोग में आती थी। सिंचाई के साधनों के अभाव में आधी जमीन खाली रहती थी। रेशम विभाग के अधिकारियों ने शहतूत पौध रोपण की सलाह दी। डरते-डरते किसानों ने बमुश्किल पोन एकड़ जमीन जिसमें मक्का लगाता था उसमें शहतूत रोपण कराया। किसानों ने खेत की जुताई आदि करने के बाद रेशम विभाग से कलम मिलने पर अपनी जमीन में लगाये।

पौधे बड़े होने पर रेशम विभाग द्वारा प्रशिक्षण एवं कीट-पालन उपकरण, रेशम कीड़े के अंडे दिये गये जिनसे प्रशिक्षित तीन महिलाओं ने चाकी कार्य कर अन्य कृषकों को चाकी कीड़े बांट दिये। पहले चाकी कीड़े मंडला जिले से लाये गये थे क्योंकि स्थानीय तौर पर चाकी तैयार करने के लिए कोई प्रशिक्षित नहीं था बाद में विभाग द्वारा गाँव की ही 8 महिलाओं को चाकी तैयार करने के लिए प्रशिक्षित कर दिया गया है। इन चाकी कीड़े को घर पर ही अस्थायी मचान बनाकर शहतूत की पत्ती खेतों से लाकर पाला गया जिससे मलबरी कोया का उत्पादन संभव हो सका।

रेशम कीड़े पालन से जुड़ने के बाद पहले वर्ष से वार्षिक आमदनी बढ़ती चली गयी। अब पुरुष वर्ग अपनी परम्परागत खेती कर रहे हैं साथ ही घर की महिलायें रेशम कीट पालन कर अतिरिक्त आय भी अर्जित कर रही हैं साथ ही चाकी कार्य कर लगभग 5 से 10 हजार रुपये अतिरिक्त कमा रही हैं। शासन की मदद से अब सभी किसान रेशम कीट पालन के साथ-साथ उन्हीं खेतों में

सब्जी आदि लगाकर अतिरिक्त आय प्राप्त कर रहे हैं।

रेशम भारतीयों की जिंदगी और संस्कृति में घुलामिला है। रेशम उत्पादन में भारत का समृद्ध और व्यापक इतिहास रहा है और रेशम के व्यापार का इतिहास 15वीं सदी से चला आ रहा है। रेशम के व्यापार के लिए प्रचलित सभी पांचों प्रकार के रेशम- मलबेरी, उष्णकटिबंधीय तसार, शाहबलूत तसार, इरी और मुगा भारत की विशिष्टता है। इनमें से सुनहरा मुगा भारत की अनूठी विशिष्टता है। भारत के परंपरागत और सांस्कृतिक घरेलू बाजार और रेशम वस्त्रों की उत्कृष्ट विविधता की वजह से भारत रेशम उद्योग में अग्रणी स्थान रखता है।



पिछले छह दशकों में भारतीय रेशम उद्योग ने प्रभावी वृद्धि दर्ज की है। केन्द्रीय और राज्य की एजेंसियों द्वारा कार्यान्वित योजनाओं और हजारों समर्पित लोगों के अथक प्रयास इस संदर्भ में काफी मददगार रहे हैं। जैसे मल्टीवोल्टीन संकर की प्राचीन परंपरा का स्थान मल्टीवोल्टीन एक्सबाइवोल्टीन और बाइवोल्टीन संकर रेशम ने ले लिया है। रेशम उद्योग ने कच्चे रेशम के उत्पादन में तीव्र विकास किया है।

रेशम उद्योग भारत के ग्रामीण और कस्बों के क्षेत्रों में लगभग 7.56 मिलियन लोगों को रोजगार

प्रदान करता है। इनमें से अधिकतर कामगार समाज के आर्थिक रूप से पिछड़े वर्ग से संबंध रखते हैं जिसमें महिलाएं भी शामिल हैं। इसके ज़रिए मुख्य तौर पर लाभ से वंचित समूह यानि महिलाओं आदिवासियों और अन्य सीमांत समूहों को रोजगार और आय कमाने का मौका मिलता है। इसके अलावा रेशम उद्योग से संबंधित 60 प्रतिशत गतिविधियां ग्रामीण महिलाओं द्वारा सुचारू की जाती हैं। लगभग 7.56 मिलियन लोग रेशम उद्योग और इसकी विभिन्न गतिविधियों में संलग्न हैं।

विश्व में रेशम उत्पादन के 14.57 प्रतिशत भाग के साथ भारत दुनिया में चीन के बाद दूसरा सबसे बड़ा रेशम उत्पादक है। वर्ष 2011-12 के दौरान भारत ने लगभग 23230 मी. टन का उत्पादन किया है जिसमें 18395 मी. टन मलबेरी रेशम और 4835 मी. टन वान्या रेशम शामिल है। कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु और जम्मू-कश्मीर में मलबेरी रेशम का मुख्य तौर पर उत्पादन किया जाता है। भारत दुनिया में कच्चे रेशम का सबसे बड़ा उपभोक्ता है। कच्चे रेशम का उपभोग (लगभग 28, 733 मी. टन) इसके उत्पादन से अधिक होता है इसलिए अतिरिक्त मांग जो कि लगभग 5,700 मी. टन रेशम की है, की पूर्ति मुख्य तौर पर चीन से आयात द्वारा की जाती है।

इरी, तसार और मुगा रेशम की अन्य प्रजातियां हैं जिनका उत्पादन भारत में किया जाता है। इन्हें समग्र तौर पर वान्या रेशम (अथवा जंगली रेशम) कहा जाता है क्योंकि ये मुख्य तौर पर वन के उत्पाद होते हैं। तसार रेशम प्रमुख रूप से झारखंड, छत्तीसगढ़, बिहार, मध्यप्रदेश और

ओडिशा में उत्पादित किया जाता है इसके अलावा महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल और आंध्र प्रदेश के कुछ भागों में छोटे स्तर पर इसका उत्पादन होता है। उप हिमालयी राज्यों जैसे मणिपुर, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, असम और मेघालय में शाहबलूत तसर का उत्पादन किया जाता है।



शहतूत कीटों को भोजन देते हुए आदिवासी

इरी रेशम गैर-मल्बेरी रेशम उत्पादन में सर्वश्रेष्ठ है और मुख्य तौर पर पूर्वोत्तर राज्यों के पहाड़ी इलाकों में पाया जाता है इसके अलावा बिहार, पं. बंगाल और ओडिशा राज्यों में भी यह पाया जाता है। सुनहरे रेशम के नाम से जाने जाना वाला मुगा रेशम विशिष्ट तौर पर असम में पाया जाता है और ब्रह्मपुत्र घाटी में यह फैला हुआ है। वैश्विक मंदी, आर्थिक संकट और डॉलर के मुकाबले भारतीय रुपए में गिरावट के कारण तथा उच्च उत्पादन लाग और चीन से कड़ी प्रतिस्पर्धा की वजह से पिछले तीन वर्षों के दौरान निर्यात आय प्रभावित हुआ है।

रेशम भारत के जीवन में रच बस गया है। हजारों वर्षों से यह भारतीय संस्कृति और परम्परा का

अभिन्न अंग बन गया है। कोई भी अनुष्ठान किसी न किसी में रेशम के उपयोग के बिना पूरा नहीं होता है। रेशम उत्पादन और सिल्क रेशमी कपड़ा एक मुख्य उप क्षेत्र है जिसमें कपड़ा क्षेत्र आता है। रेशम उत्पादन कृषि आधारित कुटीर उद्योग है। रेशम उत्पादन का आशय बड़ी मात्रा में रेशम प्राप्त करने के लिए रेशम उत्पादक जीवों को पालन होता है। रेशम उत्पादन कृषि आधारित श्रम गहन उद्योग है। रेशम उत्पादन उद्योग में



शहतूत कीटों को भोजन देते हुए आदिवासी महिला शामिल मुख्य क्रियाकलाप हैं, रेशम कीट खाद्य पौधों की खेती करना; कच्चा रेशम के उत्पादन के लिए रेशम कीट पालना; रेशम फिलोमेंट निकालने के लिए कोकून का रीलिंग; और अन्य कोकून पश्च प्रसंस्करण जैसे कि, मरोड़ना, डाइ करना, बुनना, प्रिंटिंग और तैयार करना।

रेशम उत्पादन एक अत्यन्त गहन श्रम क्षेत्र है, जिसमें कृषि (रेशम उत्पादन) और उद्योगों क्रियाकलाप शामिल होते हैं। भारत का रेशम कच्चा उत्पादन में विश्व में दूसरा स्थान है। इस स्थान के साथ-साथ इसकी अपार रोजगार

क्षमता, जो रेशम पालन और सिल्क को भारतीय कपड़े के नक्शे में अपरिहार्य बनाता है।

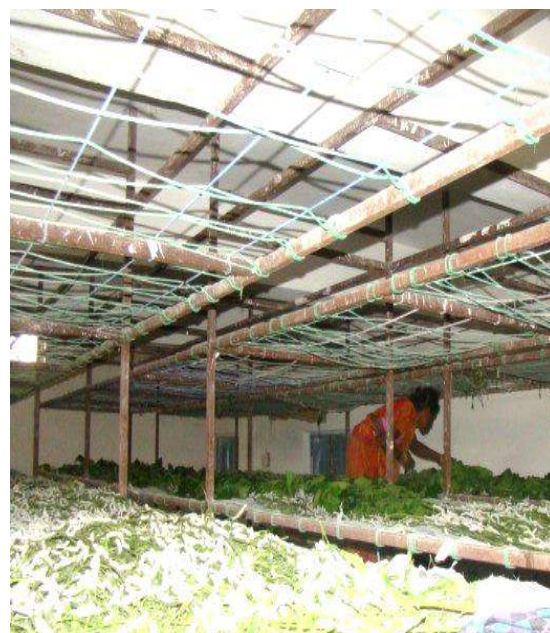
रेशम का मूल्य बहुत अधिक है परन्तु इसकी उत्पादन की मात्रा कम है जो विश्व के कुल कपड़ा उत्पादन का केवल 0.2 प्रतिशत है। यह आर्थिक महत्व का मूल्यवर्धित उत्पाद प्रदान करता है।

मूंगा रेशम के उत्पादन में भारत का एकाधिकार है। यह कृषि क्षेत्र में एकमात्र नकदी फसल है जो 30 दिनों के भीतर प्रतिफल प्रदान करता है। रेशम उत्पादन महत्वपूर्ण आर्थिक क्रियाकलाप के रूप में उभरा है यह देश के अनेकानेक भागों में लोकप्रिय होता जा रहा है क्योंकि इसकी परिपक्वन अवधि छोटी होती है, संसाधनों का तुरंत पुनः चक्रन होता है। यह सभी प्रकार के किसानों के लिए उपयुक्त होता है विशेषतया सीमांत और छोटे जमीन धारकों के लिए चूंकि यह आप बढ़ाने के लिए समृद्ध अवसर प्रदान करता है और साल भर के लिए स्वयं परिवार के लिए रोजगार का सृजन करता है।

खंडवा जिले के आदिवासी अंचल खालवा में रेशम उत्पादन के प्रति किसानों का रुझान बढ़ता जा रहा है। यहाँ के आदिवासी अंचल के किसानों को रेशम उत्पादन के प्रति प्रोत्साहित किया है। यह एक ऐसा रोजगार है जो कम लागत में अधिक उत्पादन देता है जिससे किसान कृषि की ओर कम ध्यान देकर रेशम उत्पादन के व्यवसाय की ओर अधिक ध्यान दे रहे हैं। यह स्वरोजगार के क्षेत्र में बड़ी उपलब्धि बनने जा रहा है। खालवा अंचल में अभी तक कई कृषक इस व्यवसाय को अपना कर अधिक से अधिक आय अर्जित कर रहे हैं। जहाँ एक ओर खेती में किसान दो से तीन फसल की ही उपज लेकर रह जाता था।

आज मलबरी (शहतूत) पौधा रोपण करके साल में 6 बार उत्पादन ले सकता है। एक वर्ष में छः बार कटने वाला मलबरी (शहतूत) का पौधा रेशम के कोकून (इल्ली) पालन के लिए होता है कोकून (इल्ली) से एक बार में कृषक को 25 से 30 हजार रुपये की आय होती है। अन्य फसल की अपेक्षा मलबरी पौधा रोपण में ज्यादा मूनाफा होता है।

रेशम कीट पालन, एक कृषि आधारित कुटीर उद्योग है, जिसमें ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास की सर्वाधिक संभावनाएं हैं। रेशम उद्योग इक्विटी वितरण में अहम भूमिका निभाता है, क्योंकि रेशम मुख्य रूप से शहरी अमीरों द्वारा खरीदा जाता है तथा रेशम के वस्त्र का अनुमानतः 61 प्रतिशत अंतिम मूल्य वापस किसानों और बुनकरों तक पहुंच जाता है। पोषक पौधे की खेती और रेशम के कीड़ों के पालन से लेकर वस्त्र और



आदिवासियों द्वारा शहतूत इल्लियों का वृहत स्तर पर पालन परिधानों की तैयारी से जुड़ी रेशम कीट पालन से सम्बद्ध विभिन्न गतिविधियों में लगे कामगारों में

करीब 60 फीसदी महिलाएं हैं। रेशम उद्योग, पर्यावरण के अनुकूल, सतत और गहन श्रम वाली आर्थिक गतिविधि है।

पिछले तीन दशकों से, भारत का रेशम उत्पादन धीरे-धीरे बढ़कर जापान और पूर्व सोवियत संघ देशों से ज्यादा हो गया है, जो कभी प्रमुख रेशम उत्पादक हुआ करते थे। भारत इस समय विश्व में चीन के बाद कच्चे सिल्क का दूसरा प्रमुख उत्पादक है। वर्ष 2009-10 में इसका 19,690 टन उत्पादन हुआ था, जो वैश्विक उत्पादन का 15.5 फीसदी है। भारत रेशम का सबसे बड़ा उपभोक्ता होने के साथ-साथ पांच किस्मों के रेशम-मलबरी, टसर, ओक टसर, एरि और मुगा सिल्क का उत्पादन करने वाला अकेला देश है और यह चीन से बड़ी मात्रा में मलबरी कच्चे सिल्क और रेशमी वस्त्रों का आयात करता है।



आदिवासियों द्वारा तैयार शहतूत की स्वस्थ इल्लियाँ। भारत के रेशम उत्पादन में 7.2 फीसदी वृद्धि हुई टसर, एरि और मुगा जैसे वन्य सिल्क के उत्पादन में 22 फीसदी वृद्धि हुई। रेशम की इन किस्मों का उत्पादन मध्य और पूर्वोत्तर भारत के

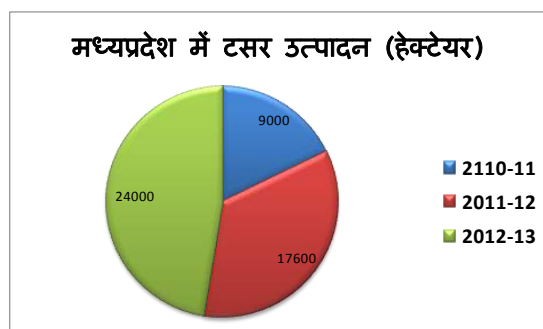
जनजातीय लोग करते हैं। वन्य सिल्क को “पर्यावरण के अनुकूल हरित रेशम” के रूप में बढ़ावा देने और वैश्विक बाजार में विशेष बाजार तैयार किए जाने की व्यापक सम्भावना है।

रेशम जम्मू काश्मीर का संजो कर रखे गए धरोहरों में से एक रहा है। घाटी में रेशम उत्पादन का वर्णन राजतरंगिणी सहित प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में मिलता है। वस्त्रों की रानी माने जाने वाले कश्मीरी रेशम को उपभोक्ता इसकी चमक, शुद्धता और महीन गुणों के कारण हमेशा चाहते रहे हैं। मध्यकालीन युग में काश्मीर में रेशम के उत्पादन को सुल्तान जैनुल आबिदीन जिन्हें बादशाह के नाम से भी जाना जाता है। उन्होंने इस पर विशेष ध्यान दिया तथा नई उन्नत तकनीक का उपयोग कर इस उद्योग को काफी फलने फूलने में मदद की। हालांकि परवान चढ़ते इस उद्योग को काश्मीर में अफगान शासन काल में बहुत क्षति पहुंची लेकिन 19वीं सदी में डोगरा शासनकाल में इस पर फिर से ध्यान दिया गया और रेशम का उत्पादन काश्मीर की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण बन गया। 20वीं सदी के पहले मध्य काल में काश्मीर का रेशम व्यापार अपने श्रेष्ठ रेशमी सूत की वजह से न केवल पूरे ब्रिटिश साम्राज्य में निर्यात किया जाता था बल्कि समूचे यूरोप में इसकी मांग थी।

रेशम का उत्पादन एक श्रम आधारित कुटीर उद्योग है जिसमें कृषि और उद्योग दोनों ही शामिल हैं। यह एक मात्र नकदी फसल है जो 30 दिन के अंदर ही फायदा पहुंचा देता है। कश्मीरी रेशम के कीड़े की प्रजाति स्थानीय रूप से देशज है और यह दुनिया में सर्वोत्तम गुणवत्ता वाला कृमिकोष उत्पन्न करता है।

दो दशक से अधिक समय तक राज्य की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार रहा है रेशम का पोषण आज बदतर हालत में है। उपलब्ध आंकड़ों के मुताबिक कश्मीर में कृमिकोष का उत्पादन 90 के दशक के अंत में गिरकर 60 हजार किलोग्राम रह गया जबकि 80 के दशक में यह 15 लाख किलोग्राम से अधिक पर पहुंच गया था। शहतूत की पैदावार कम किए जाने से भी इसके उत्पादन पर फर्क पड़ा है। शहतूत के पत्तों पर ही रेशम के कीड़े पनपते हैं। शहतूत के रोपने का स्थान सिमट कर केवल 963 एकड़ रह गया है। इन्हीं सब वजहों और कृमिकोष की कम बाजार मूल्य की वजह से किसान इस क्षेत्र से विमुख हो गए हैं।

सिल्क उत्पादन के मामले में भारत का स्थान विश्व में दूसरा है, जो कुल वैश्विक उत्पादन में करीब 18 फीसदी का योगदान करता है लेकिन दुनिया में सिल्क का सबसे बड़ा उपभोक्ता है। साल 2010 में दुनिया भर में कुल 14, 0051 टन कच्चे सिल्क का उत्पादन हुआ और इसमें चीन की हिस्सेदारी करीब 82 फीसदी रही। इसका बाद भारत का स्थान रहा, जो वैश्विक मांग का करीब 15 फीसदी पूरा करता है। दिलचस्प रूप से भारत सिल्क का सबसे बड़ा उपभोक्ता भी है, जहां 27, 000 टन सिल्क की खपत होती है।



रेशम उत्पाद में भारत दूसरे नंबर पर आता है। रेशम के जितने भी प्रकार हैं, उन सभी का

उत्पादन किसी न किसी भारतीय इलाके में होता ही है। भारतीय बाजार में इसकी खपत भी काफी है। विशेषज्ञों के मुताबिक, रेशम उद्योग के विस्तार को देखते हुए इसमें रोजगार की काफी



संभावनाएं हैं और आने वाले दिनों में इसका कारोबार और फलेगा-फूलेगा। फैशन उद्योग के काफी करीब होने के कारण भी इसकी मांग में शायद ही कभी कमी आए। देश में लंबी अवधि में कच्चे सिल्क और कपास की उपलब्धता सुनिश्चित करने की रणनीति के तहत कपड़ा मंत्रालय इन उत्पादों की खरीद विदेश से करने की योजना बना रहा है। सिल्क के लिए सरकार ने कजाकस्तान, उजबेकिस्तान और ताजिकिस्तान से एमओयू पर हस्ताक्षर किए हैं। इसके तहत भारत की निजी कंपनियों को इन देशों में सिल्क के उत्पादन में सहायता मिलेगी।

रेशम एक मूल्यवान वस्त्र है, जिसका सौन्दर्य पहनने वाला ही महसूस कर सकता है। यह अहसास ही रेशम के मूल्यवान होने का कारण भी है। रेशम और उससे बनने वाले उत्पाद अपने ऊँचे मूल्य के कारण अपने निर्माताओं के लिए आय के अच्छे स्रोत होते हैं। रेशम का व्यापार पूरी दुनिया में होता है। इसका मुख्य केन्द्र आज भी चीन है। हर साल चीन और जापान विश्व के कुल उत्पादन का 50 प्रतिशत भाग रेशम बनाते हैं। रेशम की साड़ी और कपड़े

पूरी दुनिया में प्रसिद्ध हैं। भारत भी रेशम निर्यात का प्रमुख केन्द्र है। रेशम के कपड़े का कुल निर्यात का 15 प्रतिशत भारत द्वारा किया जाता है।

रेशम उत्पादन ग्रामीण विकास, पर्यावरण संरक्षण और कायाकल्प के लिए सबसे उपयुक्त कृषि आधारित कुटीर उद्योग में से एक है। इसमें न केवल ग्रामीण रोजगार सृजन और ग्रामीण प्रवास को रोकने की क्षमता है अपितु यह पारिस्थितिकी, विरासत और सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की सुरक्षा और संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

आदिवासी द्वारा रेशम कीट पालन मध्यप्रदेश में इन दिनों टसर क्रांति का आकार ले रही है। बीते वर्ष में प्रदेश में टसर रेशम का उत्पादन मात्र 3000 हेक्टेयर से बढ़कर अब लगभग 24 हजार हेक्टेयर में होने लगा है। कोकून उत्पादन भी करीब 2 करोड़ से बढ़कर लगभग साढ़े आठ करोड़ हो गया है। इसकी बदौलत मध्यप्रदेश अब टसर रेशम के उत्पादन में देश में सातवें से चौथे स्थान पर आ गया है। पहले मध्यप्रदेश; उड़ीसा,



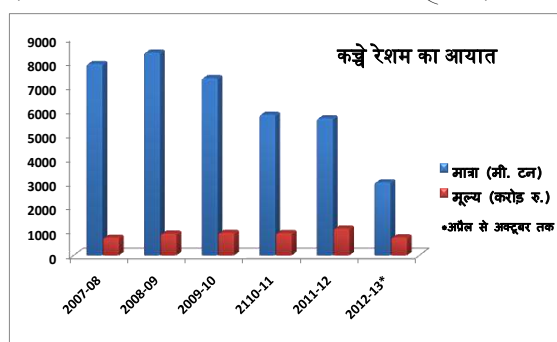
डिण्डोरी जिले के आदिवासियों द्वारा रेशम का धागाकरण छत्तीसगढ़, आन्ध्रप्रदेश, झारखण्ड, बिहार और उत्तरप्रदेश के बाद सातवें नम्बर पर था। वर्ष 2000 में छत्तीसगढ़ राज्य बन जाने से न केवल

टसर रेशम कीट-पालन का क्षेत्र वहाँ चला गया बल्कि इसका परम्परागत ज्ञान भी मध्यप्रदेश में नहीं रह गया। अविभाजित मध्यप्रदेश में 60 लाख कोकून उत्पादन होता था। विभाजन के बाद मध्यप्रदेश में यह सिर्फ 6 लाख रह गया। इसके चलते टसर रेशम उत्पादन नेपथ्य में चला गया। प्रदेश में लगभग 10 लाख हेक्टेयर में टसर रेशम उत्पादन की संभावना है। संकल्प पर अमल करते हुए वन विभाग और रेशम संचालनालय ने संयुक्त रूप से काम करना शुरू किया।



सबसे पहले यह पर्यावलोकन करवाया गया कि अर्जुन और साजा के वृक्ष किन वन क्षेत्रों में बहुत अधिक हैं। पर्यावलोकन में पाया गया कि प्रदेश में इन वृक्ष की संख्या लगभग 12 करोड़ है। लक्ष्य निर्धारित कर उन पर तत्परता से अमल किया गया। वर्ष 2010-11 में 5000 हेक्टेयर में टसर उत्पादन के लक्ष्य के विरुद्ध 9000 हेक्टेयर में यह काम किया गया। डेढ़ करोड़ कोकून के लक्ष्य की तुलना में एक करोड़ 90 लाख कोकून उत्पादन हुआ। वर्ष 2011-12 में 17 हजार 500 हेक्टेयर के लक्ष्य की तुलना में 17 हजार 600 हेक्टेयर में 4 करोड़ 26 लाख कोकून तैयार किये गये। वर्ष 2012-13 में लगभग 24 हजार हेक्टेयर में 5 करोड़ 82 लाख कोकून का उत्पादन किया गया। वर्ष 2009-10 में सिर्फ 5-6 जिले में ही टसर

रेशम का उत्पादन होता था। अब प्रदेश के 32 जिलों में यह कार्य हो रहा है। इस कार्य के लिये हितग्राहियों को समुचित प्रशिक्षण भी दिया गया। प्रदेश में टसर रेशम उत्पादन का कार्य मुख्य रूप से बालाघाट, मण्डला, नरसिंहपुर, होशंगाबाद, छिन्दवाड़ा, बैतूल, सीहोर और हरदा जिले में होता है। वन क्षेत्रों में लोगों को, जिनमें अधिकतर आदिवासी होते हैं, एक-एक हेक्टेयर क्षेत्र दे दिया जाता है। यह लोग वृक्षों पर अंडों को पालते हैं। इनमें से निकलने वाले कीड़ों को पेड़ों पर चढ़ा दिया जाता है। हितग्राही 35-40 दिन तक जंगल में रहकर ही इनकी रखवाली करते हैं। इससे कीड़ों के साथ-साथ वनों का संरक्षण भी होता है। ककून बनाकर यह लोग रेशम पालन विभाग को बेच देते हैं। इससे प्रत्येक हितग्राही को दो फसलों में 3-3 माह के भीतर 10 से 40 हजार रुपये तक की आमदनी हो जाती है। हितग्राही का परिवार लगभग एक लाख रुपये तक कमा लेता है। वर्तमान में लगभग 30 हजार लोग इस कार्य से लाभान्वित हो रहे हैं। इनमें करीब 80 प्रतिशत आदिवासी हैं। इस वर्ष



रेशम के कच्चे माल की आयात की जाने वाली मात्रा (मी. टन) एवं उनका मूल्य (करोड़ रु.) में हितग्राहियों को लगभग 6 करोड़ रुपये दिया गया। प्रत्येक कोकून में लगभग 1 किलोमीटर धागा होता है। धागा बनाने के लिये राज्य में पिछले

तीन वर्ष में 19 धागाकरण इकाई स्थापित की गई हैं। इन इकाई में लगभग 1500 महिलाओं को पूरे वर्ष नियमित रोजगार मिलता है। आने वाले दो वर्ष में पूरा धागाकरण मध्यप्रदेश में ही होने लगेगा।

छत्तीसगढ़ में बस्तर के जंगलों में प्राकृतिक रूप से जन्म लेने वाला एक रैली कोसा डेढ़ किमी लंबा धागा देता है। इस खासियत के कारण बस्तर के कोसा की मांग पूरे देश में है। बस्तर का कोसा वस्त्र अपनी गुणवत्ता और रंग के कारण देश-विदेश में विख्यात है। प्रति वर्ष यहां के जंगलों से करीब 5 करोड़ नग कोसा फल एकत्र किया जाता है। एक साबूत रैली कोसा का वजन 2.5 ग्राम होता है। कास्टिक सोडा में उबालने के बाद वजन 1.6 ग्राम रह जाता है। उबले एक रैली कोसा से 15 सौ से लेकर 18 सौ मीटर अर्थात् करीब डेढ़ किमी तक लंबा धागा निकाला जाता है। इस विशेषता के कारण ही बस्तर के रैली कोसा की मांग अधिक है। गांवों की 40 महिलाएं प्रतिदिन पांच घंटा रैली कोसा से धागा निकालने आती हैं। यहां 20 महिलाएं मशीन से रिल्ड श्रेड तो इतनी ही महिलाएं मटकी के पेंडें में रगड़ कर घिंचा धागा तैयार करती हैं। प्रत्येक महिला 25 दिनों में तीन-साढ़े तीन किग्रा कोसा धागा निकाल कर औसतन छह हजार रूपए कमा लेती हैं। यह महिलाएं प्रति वर्ष करीब 600 किग्रा घिंचा और 450 किग्रा रिल्ड धागा तैयार कर लेती हैं।

Community forestry in India: schemes and conflict

Vikas Kumar

Department of Silviculture and Agroforestry, College of Forestry, Vellanikkara
Kerala Agricultural University, KAU, Thrissur, Kerala 680656, India

There is no shortage of places in the world where forests and their resources are subject to acrimonious, even fierce, conflicts. Across a range of jurisdictions, community forestry is one of the solutions being promoted. Community forestry has been widely interpreted by different people in different contexts. Community forestry contain the common perspective that local control of local natural resources helps to produce multiple benefits for local communities. In 1976, the National Commission on Agriculture in India introduced the concept of Social Forestry to encourage those who were dependent on fuelwood, fodder and other forest products, to meet their own needs through various activities, in order to reduce the burden on the Forests (Arnold, 1991). This concept was further refined by FAO in 1978, by defining community forestry as the programme which intimately involved local people in afforestation, irrespective of the pattern of land ownership. While the traditional forestry covered the protection and production roles, social forestry was intended to play the social role. Community forestry is

neither a new concept nor a new practice. It represents a traditional and longstanding approach to managing human interactions with forest lands and resources, common in developing regions and among the indigenous societies of developed regions. Community forestry is more collaborative and participatory as it frequently involves multi-stakeholder arrangements and seeks to incorporate multiple timber and non timber value, as well as different, indeed competing, worldviews and knowledge, into human decisions and actions affecting forest ecosystems. It is also considered as a way to mitigate conflict over resources and territories, empower communities, implement ecologically based forestry and environmental stewardship, and restore community and cultural links with local environs (Bullock et al., 2009). There is growing recognition among community forestry practitioners and researchers that the hopeful idealism that at times surrounds the concept must give way to more systematic examinations of actual experiences and lessons learned in various institutional and physical settings (Donoghue and Sturtevant, 2008). But

community forestry cannot be everything to everybody. Implementing community forestry in policy and practice is complex and difficult work.

The main goals of community forestry are as follows:

- I. To enhance local control over decisions affecting forests deemed by communities to hold unique local significance for economic, social, and ecological reasons.
- II. To enhance local economic stability through forest based economic development.
- III. To enhance sustainable forest management through improved stewardship and ecologically sensitive forestry practices that respect multiple timber and non timber values and protect cultural, recreational and aesthetic values.
- IV. Provide long-term opportunities for achieving a range of community objectives, values and priorities.
- V. Promote communication and strengthen relationships between aboriginal and non-aboriginal communities and persons.
- VI. Foster innovation and advocate forest worker safety.

The following barriers of community forestry are as follows:

- I. The people may not have ownership or control of the forest.
- II. The community may not be interested in maintaining forest cover, preferring to clear it for agriculture or to make money.
- III. Communities may lack the technical skill to manage the existing forest or to plant new ones.
- IV. Communities may not have sufficient capital to establish viable processing facilities;
- V. If they do have rights to the forest, factions within communities may exploit others, or the community as a whole may be exploited by outsiders.
- VI. Participatory decision-making can be cumbersome and unwieldy.
- VII. The concept of community forestry on degraded or logged-over land may be acceptable to powerful interests, but it may not have the same level of appeal when applied to primary forests.
- VIII. The outside agency that is promoting community forestry may be doing so with a particular outcome in mind, an outcome not necessarily in tune with the wants and needs of the community in question.

Despite these and other obstacles, community forestry also offers opportunity and resistance from conventional established interests, there has been a resurgence of community forestry in developing countries since about the 1970s and this growth is a part of a global trend towards increased local control over natural resources and benefits through community based natural resource management (CBNRM) and signals a global movement in forest governance reform. A growing body of multidisciplinary evidence now questions the sustainability of conventional forest management based on top down decision making, technical and market based solutions, and sustained yield policies and science (Roling, 2002). It has been implemented in developing countries and it has been successful in its aims of sustainable forest management, climate change adaptation plan of action and securing socio-economic benefits for local communities (Roberts and Gautam, 2011).

Schemes of Community Forestry:

Community forestry included a wide range of activities such as growing trees on farm bunds and roadsides, developing woodlots on common properties and collection, processing and management of forest products by involving local communities.

Realising the problems of poverty and unemployment closely linked with denudation of natural resources, scarcity of fuel, fodder and timber, the Government of India in their Sixth Five Year Plan (1980-85) aimed at generating rural employment through social forestry and thereby reducing poverty from 48% to 30%, which was further intended to be brought down to 10% during the Seventh Five Year Plan (1985-90). In 1985, the National Wastelands Development Board was established by the Government of India to promote the production of fodder, fuel and minor timber on wastelands, by involving local communities and voluntary agencies. Important social forestry models formulated to achieve these goals were rehabilitation on degraded lands, strip plantations, village woodlots, farm forestry, agroforestry, homestead plantations and decentralized nurseries. Newly established State Social Forestry Departments were confident of implementing this programme, in view of their strong technical expertise and adequate resources. In 1990, Social Forestry Departments had great difficulty in mobilizing local participation. There was a wide gap between the assumed problems and actual realities in the field (Shingi, 1990). As the work plans were not based on specific ground data and

ecological conditions, the proposed models of social forestry were often found to be inappropriate. However, modifications in the project designs and implementation plans could not be carried out because of rigid rules and regulations. These schemes could not register the anticipated success because of the following reasons: community woodlots, decentralised nurseries, energy conservation, farm forestry and strip plantations.

A. **Community Woodlots:** Development of fuel wood plantations on community wastelands was a major programme to generate employment for the local poor and the landless, while augmenting the fuel and forage shortfall faced by the community. Many of these projects had failed to progress in terms of plant survival, growth and income generation. In the absence of effective local organizations, the programme heavily depended on the Village Panchayats, who had bare minimum staff to manage these plantations. As the area available for plantations was very small, the supply of fuel and fodder was also inadequate to meet the local demands. As the community plantation activities could not motivate the local people, most of these plantations were destroyed within a

short period after completion of the project.

- B. **Decentralized nurseries:** The primary objective was to build up the local capacity for assured supply of healthy planting stock materials of popular tree species. In the absence of well planned marketing arrangements, the nurserymen were totally dependent on the Social Forestry Department for selling their seedlings. As a result, farmers had to discontinue their activities immediately after completion of the project.
- C. **Energy Conservation:** Several energy conservation measures like promotion of improved wood stoves and biogas plants did not achieve the expected results due to poor publicity and awareness. The poor response was also because of unsuitable designs of smokeless wood stoves which failed to save wood.
- D. **Farm Forestry:** It was the most successful scheme wherein farmers established plantations of eucalyptus, casuarina, poplar, teak, etc., on their agricultural lands using necessary inputs like irrigation and fertilizers with the hope of finding a suitable market and attractive price for the produce. However, the project could not get adequate response at the initial

stage as most of the illiterate target families feared that the government would acquire their lands, after the establishment of trees. The absence of any marketing infrastructure it was difficult for them to find attractive buyers in remote areas. Obsolete Tree Acts imposed by the government created further obstacles in felling, transporting and sawing of timber by the growers. This forced them to either sell it to the middlemen or delay the harvest.

- E. **Strip Plantations:** Saplings of tall growing tree species were established in multiple lines along the railway tracks, canal bunds and roadsides and the landless families were involved in protecting them. This was fairly successful but the incentives offered by the project implementing agency were not adequate for the beneficiaries to devote sufficient time for protection. Thus some of these trees were stolen. In the absence of clear directives from the government regarding the sharing of benefits, the participants were not allowed to cut the trees.

Conflict of Community Forestry:

The conflict of social phenomenon associated with community forestry is not a simple case of “where there’s

smoke, there’s fire”. Conflict during the initial phase of community forestry is not unusual, nor does it point to some fundamental flaw in the concept or foreshadow the imminent failure of local organizing and decision making effects. Rather, conflict can be viewed as a symptom of grassroots democratic processes working through or transitioning between developmental stages. Community forestry can indicate the existence of local frustrations with the nature or rate of change in a particular place, and hostile groups searching for a way to keep certain people “out” or maintain a fading way of life, which is of course an exercise in futility. Community forestry is not a way to half change but instead offers a way for community members to learn about and understand what is changing in their forests and communities and why. It provides a collaborative strategy to better adapt to and navigate unwelcome change in order to sustain forest communities based on the broadest range of local value and desires. Communities engaged in local organizing and deliberative processes have an opportunity to collectively formulate shared understanding, values and

experiences that form the basis of community identity.

As awareness and knowledge increase, there is a basic human tendency to question what has previously gone unchallenged. There is the potential that community forestry could generate cognitive conflict by creating public (cognitive) awareness, and building expectations that cannot be met. The realization that some problems cannot be solved by community forestry because their causes lie elsewhere in the global economy or higher up the administrative ladder can also be agonizing. Community involvement could therefore, create positive cognitive conflict, challenging the status quo to induce creativity and innovation and to develop new opportunities - some of which may not be based on logging or the forested landscape (Bullock and Hanna, 2012).

References

1. Bullock, R., Hanna, K. and Slocombe, S. 2009. Learning from community forestry experience: Challenges and lessons from British Columbia. *Forestry Chronicle* 85(2): 293-304.
2. Bullock, R.C.L. and Hanna, K.S. 2012. *Community Forestry: local value, conflict and forest governance*. Cambridge University press, p. 178.
3. Donoghue, E. and Sturtevant, V. (eds). 2008. *Forest Community Connections. Implications for Research, Management and Governance*. Washington, DC: Resources for the Future.
4. Roberts, E.H. and Gautam, M.K. 2003. *Community Forestry Lessons for Australia: A Review of International Case Studies*; The Australian National University: Canberra, Australia, p. 16.
5. Roling, N. 2002. Beyond the aggregation of individual preferences. In Leeuwis, C. and Pyburn, R. (eds.). *Wheelbarrows full of Frogs: Social Learning in Rural Resource Management*. Asean, Netherlands, Koninklijke: Van Gorcum, pp. 25-47.
6. Shingi, P.M. 1990. Beyond the targets: Summary of the papers. In studies on Social Forestry in India. Management perspectives. RAPA Pub.1. IIM / FAO, Bangkok, pp-1-8.

उष्ण कटिबंधीय वन संशोधन संस्थेच्या परिसरात (कॅम्पस) फुलपाखरांची जैव विविधता

डॉ. संजय पौनीकर व डॉ. नितिन कुळकर्णी
वन किटक विज्ञान विभाग, उष्ण कटिबंधीय वन संशोधन संस्था,
जबलपुर-482021

उष्ण कटिबंधीय वन संशोधन संस्था (भारतीय वानिकी संशोधन संस्था व शिक्षण परिषद, पर्यावरण, वन व हवामान परिवर्तन मंत्रालयची एक स्वायत्त संस्था, भारत सरकार) भारताचा मध्य प्रदेश राज्याच्या जबलपुर शहराच्या दक्षिण-पूर्व मध्ये मंडला रोड व गौर नदीचा तटावर 79°59'23.50° E -21°08'54.30° N स्थित आहे. ही संस्था 109 एकर विस्तृत क्षेत्रात फैललेली आहे. इथे विविध वन रोपवाटिका, प्रायोगिक आणि वृक्षारोपण क्षेत्र, तसेच रहिवाशी कॉलोनी पण आहे. ज्यामुळे हया संस्थे परिसरात फारच घनदाट वृक्षवेली आढळतात त्यामुळे हिरवेगार रानात आल्यासारखे वाटते. इथे 57 पेक्षा जास्त विविध प्रकारचा फुलझाडांच्या जाती-प्रजाती आहेत. काही फुल झाड नैसर्गिक रीत्या उगवलेली व काहीना रोपण केल्या गेलेली आहेत. हयामध्ये प्रमुख आहेत, सागवन, बांम्बू, कडूनींब, अशोक, अर्जुन, गुलमोहर, बाभूळ, करंज, पिपळ, आंबा, महुआ, हरडा, बीजा,

बोर, महानींब, निलगिर, पळश, सिरस व फुलांमध्ये बोगनवेलिया, गुलाब, जाई, चंपा, चमेली, डेलिया, लैटाना आणि अन्य प्रकारचा वृक्षवेली आहेत. संस्था चार ही बाजूने शेती व नदी घेरलेली असल्यामुळे घनदाट संरक्षित अरण्या सारखी झाली असल्यामुळे विविध वन्य प्राण्यासाठी एक नैसर्गिक आश्रय स्थळ बनलेले आहेत. हयामुळे विविध वन्य प्राणी; जसे विविध जाती-प्रजाती चे किटक, उभयचर, सरीसृप, पक्षी आणि सस्तन प्राणी आकर्षित होऊन आपले नैसर्गिक आश्रय स्थळ बनवून राहतात. हयामध्ये विविध जाती-प्रजातीचे रंगीबिरंगी फुलपाखरे पण आहेत.

फुलपाखरांना हिंदी मध्ये तितली व इंग्रजी मध्ये बटरफ्लाय (Butterfly) म्हणतात. हे किटकांचा जाती मध्ये सर्वात सुंदर व रंगीबिरंगी किटक आहे. हा पर्यावरणाचा एक प्रमुख घटक आहे. फुलपाखरे फुला-फुलांत परागण करून फुलांना प्रजनन करण्यास व वाढविण्यात मदत करते व

पर्यावरण मध्ये एक अतिशय महत्वपूर्ण भूमिका बजावतात. फुलपाखरे किटकांच्या



कॉमन जेजेबल

लेपिडोप्टेरा (Lepidoptera) अश्या वर्गाचा येतात. हया वर्गात मोडणा-या किटकांचा पंखावर पावडरी सारखे लहान लहान विविध रंगाचे ठिपके असणारे (खवले) शल्क असतात. हयाचा विविध सुंदर रंगीबिरंगी पंख उडतांना दिसतात हयामुळे फुलपाखरांना उडणा-या परया (उडन सुंदरी) म्हणुन पण जगा मध्ये ओळखल जाते. हया वर्गामध्ये किड पतंग (Moth) पण येतात. फुलपाखरं आणि पतंगामध्ये एक मूलभूत फरक आहे. फुलपाखरे

बसताना पंख पसरतात व मिटतात तर पतंग पंख पसरून बसतात. फुलपाखरं दिवसा जास्त दिसतात, फुलपाखरे दिनचर असल्यामुळे दिवसा जास्त दिसतात, तर पतंग निशाचर असतात म्हणूनच जंगलाजवळच्या घरातल्या दिव्यावर पतंग आकृष्ट होतात आणि दिव्याजवळ जाण्याचा प्रयत्न करतात. पतंगाची अळी साधारपणे केसाळ असते तर फुलपाखरांची अळी केस विरहित असते. व कोष बनवते तेव्हा त्या कोषावर कसलंही आवरण नसते तर पतंगाचा कोष केसाळ आणि पांढ-या तंतूनी झाकलेला असतो. फुलपाखरांना तसेच पतंगांना लांबच लांब एक घडयाळाचा स्प्रिंग सारखी सोंड असते त्याला प्रोबॉसिस (Probasis) असे म्हणतात. या सोंडाद्वारे ते फुलांचा व पानांचा रस शोषून घेतात. फुलपाखरे काही वन वृक्ष प्रजाती व शेतीच्या काहीच पिकांचे हानीकारक किड (Insect Pests) आहेत. याची अळी फारच थोड्या वृक्ष प्रजातींना नुकसान करतांना आढळते. पण पतंगाचा सगळ्याच जाती-प्रजाती रेशीम किडयांना सोडून वन वृक्ष प्रजाती व शेतीच्या पिकांचे फार मोठ्या प्रमाणात नुकसान करतांना आढळतात व पतंग हा एक हानीकारक किड (Insect Pests)

म्हणुन जगभर ओळखल्या जातो. फुलपाखरे वृक्ष फुलासाठी अत्यंत महत्वपूर्ण आहेत कारण हे एका फुलांतुन दुस-या फुलांमध्ये परागण करून वृक्षांचा प्रजननासाठी फार मोठी कामगिरी बजावतात. फुलपाखरे वातावरणाचा परिवर्तनाची सूचक आहे. वातावरणात थोडा जरी बदल झाल्यास हयांना पटकन कळून चुकते, म्हणुन हया वातावरणात बदलावासाठी नाजूक असतात बदलत जाणा-या वातावरणाला त्या सहन करू शकत नाही.

भारतात फुलपाखरांची एकूण 1504 से पेक्षा जास्त जाती-प्रजाती आढळतात. हयामध्ये पश्चिम घाटात फुलपाखरांची सगळ्यात जास्त जैव विविधता आढळुन येते. प्रसिद्ध शास्त्रज्ञ डी. एब्रू ने 1931 में भारताचा मध्य प्रदेश व विदर्भ राज्यात 177 फुलपाखरांची प्रजाती आढळुन आल्याचा उल्लेख केला आहे. नंतर विविध किटक शास्त्रज्ञांनी मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ राज्यामध्ये फुलपाखरांचा विविध प्रजातीचे वर्णन केलेले आहे. आताच 2007 मध्ये किटक शास्त्रज्ञांनी मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ राज्या मध्ये फुलपाखरांच्या 177 प्रजाती आढळुन आल्याचा निकर्ष काढला आहे.

उष्ण कटिबंधीय वन संशोधन संस्थेच्या परीसरात कोणती आणि किती प्रकारचा फुलपाखरांची प्रजाती आढळुन येते याची एक निश्चित माहिती अजून पर्यंत झालेली



बारोनेट

नाही आहे. या करीता उ.व.अ.संस्थेच्या मुख्य परीसर, वनरोपवाटिका, प्रायोगिक आणि वृक्षारोपण क्षेत्र, तसेच रहिवाशी कॉलोनी आणि गौर नदीचा काठी पण निरीक्षण केले गेले. या परीसरात विविध फुलपाखरांची प्रजातीचा सखोल अभ्यास करण्यासाठी महिना जुन 2010 ते मे 2011 पर्यंत निरीक्षण करण्यात आले. निरीक्षण करण्यासाठी सकाळी 8:00 ते 11:00 व संध्याकाळी 4:00 ते 6:00 वाजताची वेळ निवडण्यात आली कारण हयाच वेळी जास्तीत जास्त फुलपाखरे सक्रिय असतात. विविध फुलपाखरांच्या प्रजातीची ओळख करण्यासाठी फोटो घेण्यात आली. काही फुलपाखरांना किटक

जाळी (Insect Net) ने पकडून प्रयोगशाळेत आणले गेले. नंतर त्यांची ओळख त्याचा बाहेरचा आवरण आणि त्याचा रंगरूपाचा बारकाई ने निरीक्षण करून नंतर त्यांची ओळख विविध प्रकारचा किटक शास्त्रज्ञांच्या फिल्ड गाईड ने केली गेली. काही फुलपाखरांची ओळख उष्ण कटिबंधीय वन संशोधन संस्थेचा वन किटक विभागाच्या किटक संदर्भ कक्षात



कॉमन लेपर्ड

ठेवल्या गेलेल्या विविध फुलपाखरांचा प्रजाती वरून केली गेली. नंतर फुलपाखरांची कोणती प्रजातीची संख्या व किती वेळा पाहिली गेली हयावरून त्यांना विभाजित केले गेले. हे विभाजन ह्या प्रकारे आहे, सर्व साधारपणे किंवा जास्तच-जास्त पाहिल गेलेले (VC- Very Common-100 पेक्षा जास्त), साधारणता किंवा जास्त वेळा पाहिल गेलेले (C-Common & 50 rs 100

वेळा), कमी वेळा पाहिल गेलेले (NR- Not Rare & 15 से 50 वेळा), कमीत कमी वेळा पाहिल गेलेले (R- Rare 2 ते 15 वेळा), फारच कमी वेळा पाहिल गेलेले (VR- Very Rare 1 ते 2 वेळा) पाहिल गेलेले आहे.

उ.व.अ.संस्थेच्या परीसरात एकुण फुलपाखरांची 66 प्रजाती 47 (Species) जेनेरा (Genera) आणि 5 कुळ (Families) आढळून आल्या. हयामधे 5 कुळ या प्रकारे आहेत, पॉपिलीओनिडी (5 प्रजाती), पेरिडी (9 प्रजाती), निम्फॅलिडी (25 प्रजाती), लॉइकिनीडी (18 प्रजाती) आणि हॅसपीरिडी (9 प्रजाती) ची ओळख करण्यात आली. हयामधे 24 (37 टक्के) प्रजाती जास्तीत जास्त (Very Common) 16 (24 टक्के), साधारणता जास्त (Common) 2 (3 टक्के) कमी वेळा (Not Rare) 18 (27 टक्के) कमीत कमी वेळा (R- Rare) 6 (9 टक्के) फारच कमी वेळा (Very Rare) दिसल्या. यामधे कॉमन इंडियन क्रो, कॉमन कॉस्टर, कॉमन सेलर, लेमन पॅत्सी, ब्लू टाइगर, प्लेन टाइगर, पॉपिलीयो डेमोलस, कॉमन लेपर्ड, कॅटोप्सीला पोमेन, युरेमा हेकाबे, कॉमन ग्रास येलो, पी ब्लू आणि बारोनेट

फुलपाखरांचा प्रजाती जास्तीत जास्त (Very Common), प्रमाणात पाहिल्या गेल्या. पिकॉक पॅन्सी, चॉकलेट पॅन्सी, ब्लू पॅन्सी, टाउनी कॉस्टर, पेन्टेड लेडी, कॉमन जेजेबल, कॉमन मॉरमान, ग्रेट एग्जप्लार्ई, डॅनीड एग्जप्लार्ई, लाईम ब्लू व कॉमन बेन्डेड आउल साधारणता जास्त (Common) प्रमाणात आढळतात. कॉमन रोज व ग्राम ब्लू या प्रजातीची फुलपाखरे कमी वेळा (Not Rare) पाहिल्या गेली आहे. कॉमन गल, क्रिमोन रोज, कमांडर, ग्रे पॅन्सी, लार्ज ओक ब्लू, कॉमन पॅरोट, स्पार्टेट ग्रास येलो आणि इंडियन स्कीपर प्रजातीचे फुलपाखरे फार कमी वेळा आढळली आहे. कॉमन फाईव रिंग, कॉमन बॅरोन, येलो पॅन्सी, ब्लॅक राजा व डार्क सेरुलियन प्रजातीचे फुलपाखरे फारच कमीत कमी (Rare) वेळा आढळली आहे. फुलपाखरांच्या काही प्रजाती वर्षभर म्हणजेच जानेवारी महिन्यापासून ते डिसेंबर महिन्यापर्यंत दिसतात. फुलपाखरांची संख्या पावसाळ्याचा सुरुवाती पासून ते ऑगस्ट महिन्यात फारच मोठ्या प्रमाणात दिसतात. हयामधे 57 प्रजातीचे फुलपाखरे फक्त मानसून म्हणजेच पावसाळ्यातच दिसतात. नंतरचा ऑक्टोबर ते डिसेंबर म्हणजेच थंडीचा

सुरुवातीच्या महिन्यात यांची संख्या कमी कमी होत जाते. जानेवारी व फेब्रुवारी महिन्यात यांची संख्या फार कमी होता—होता नंतर उन्हाळ्यात यांची संख्या फारच कमी होत जाते. काही प्रजातीच्या फुलपाखरांना भारतीय प्राणी (संरक्षण) कायदा 1972 मध्ये समाविष्ट केले गेलेले आहेत, हयामधे कॉमन इंडियन क्रो, डॅनीड एग्जप्लार्ई, क्रिमोन रोज, पी ब्लू आणि ग्राम ब्लू या 5 प्रजातीचा फुलपाखरे परीसरात आढळतात.



ग्रे पॅन्सी

इतक्यात फुलपाखरांची संख्या कमी होत आहे. मानवा द्वारे जंगलाला तोडून शेती करणे, आपली दैनंदिन गरजा भागविण्यासाठी लाकडे तोडणे, जंगल उजाडणे, नैसर्गिक आश्रय स्थळे नष्ट

होणे, याचे खाणारे व मध शोषणारे फुल झाडे कमी होणे, यांना मारून घराची सजावट करणे आणि पकडून बाहेरचा देशात विकणे, वातावरणात बदलावामुळे सुद्धा यांची संख्या हळूहळू कमी होत आहे. काही फुलपाखरांच्या प्रजाती तर दुर्मिळ म्हणजेच नष्ट होण्याचा मार्गावर आहे. फुलपाखरे आपल्या पर्यावरणासाठी फारच आवश्यक आहे कारण फुलपाखरे वातावरणात होणारे परिवर्तनाचा सूचक आहेत, फुलांचा प्रजननासाठी मदत करतात आणि आपल्या पर्यावरणाला स्वस्थ व सुरक्षित ठेवतात. ह्यामुळे यांचे संरक्षण करणे अत्यंत आवश्यक आहे. वरील संशोधनावरून असे कळते की, कोणतीही संशोधन संस्थेच्या किंवा शैक्षणिक परीसरामध्ये जिथे फुल झाडे व बागबगीच्या परीसर सुंदर व स्वच्छ ठेवण्यासाठी लावले जातात तिथे फुलपाखरांचे एक नैसर्गिक आश्रय स्थळ

बनून जातो. उष्ण कटिबंधीय वन संशोधन संस्थेच्या परीसरात फुल झाडे व बागबगीचांची व्यवस्थित पाहणी व नीट नेटके पणा ठेवला तर फुलपाखरांसाठी एक नैसर्गिक आश्रय व संरक्षित स्थळ बनून जाईल. त्यामुळे भविष्यात फुलपाखरांच्या विविध प्रजातीचे संरक्षण व संशोधन करता येईल.

(विस्तृत अभ्यासाकरीता शोध पत्र) Tiple, A.D. (2012). Butterfly species diversity, relative abundance and status in Tropical Forest Research Institute, Jabalpur, Madhya Pradesh, central India. *Journal of Threatened Taxa* 4(7): 2713–2717.

दीमक का प्रकोप एवं नियंत्रण उपाय

डा. पी. बी. मेश्राम

वन कीट प्रभाग

उष्णकटिबंधीय वन अनुसंधान संस्थानए जबलपुर

गण आईसोप्टेरा (Isoptera) और कुल कैलोटरमिटिडी (Kalotermitidae) राइनोटरमिटिडी (Rhinotermitidae) तथा टरमिटिडी (Termitidae) की समस्त प्रजातियां दीमक के नाम से पहचानी जाती है। दीमक अनेक प्रकार की पाई जाती है तथा प्रत्येक के सुनिश्चित कार्य है। इनमें सहकारिता की भावना बड़ी उच्च कोटि की होती है।

आर्थिक दृष्टिकोण से बीज, पौधों को जड़ो, छाल एवं काष्ठागारों में रखी गई संग्रहित ईमारती लकड़ी या ईमारती लकड़ी के सामान को दीमक के द्वारा प्रतिवर्ष बहुत क्षति पहुंचाई जाती है। भारत (उ0प्र0) में सागौन के वृक्षों पर दीमक की ओडॉटोटरमस पारक्वीडेन्स नामक जाति का काफी प्रकोप पाया गया है। दीमकों का प्रकोप अत्यंत व्यापक एवं विस्तृत होने के कारण बड़ी मात्रा में समय-समय पर निरंतर नियंत्रण उपाय को अपनाने की आवश्यकता है और तभी इस कीट के द्वारा की गई क्षति को हम नियंत्रित करने में सफल हो सकते हैं।

दीमक की पहचान एवं उससे क्षति की प्रकृति :

दीमक कोमल मटमैले रंग की होती है। राजा-रानी दीमक में लंबी अंगीकाएं, गोल सिर, दीर्घ मस्तिक, चवर्ण करने वाले

मुखांग तथा सुविकसित प्रजनन अंग पाये जाते हैं। पंख, लंबे, संकीर्ण, पारदर्शी तथा अप्रमेध शिराओं वाले होते हैं। अगले एवं पिछले पंख आकार एवं स्वरूप में समान होते हैं। श्रमिक दीमक का शरीर पारदर्शी होता है। इनकी आंगिकाएं बड़ी, चवर्ण करने वाले मुखांग, छोटे नेत्र होते हैं। सिपाही दीमक श्रमिक दीमक के समान होती है किंतु उनकी शारीरिक संरचना में विभिन्नता पाई जाती है। इनके शरीर का आकार श्रमिकों की अपेक्षा सुविकसित होता है। इनमें काईटिणीकृत या मैबिबुल और लाटिका ग्रंथी से संयुक्त सुत्र नलिकाएं होती हैं। जिनसे वे विषाक्त तरल पदार्थ अपने शत्रुओं के उपर सफलतापूर्वक फेंक सकते हैं।



टीले में रानी दीमक

दीमक अधिकतर पौधों की जड़ों तथा छाल को नुकसान पहुंचाती है । ये जड़ों को नीचे से उपर खाना शुरू करती है । हाथ से हल्के खींचने पर पौधों के साथ-साथ दीमकें भी आ जाती है । दीमकों के प्रकोप वाले स्थानों पर पतली मिट्टी की परतें भी मिलती है। मुख्य रूप से *ओडोन्टोटरमस* व *माइक्रोटरमस* (*Odontotermes, Microtermes*) जाति ही पौधों को क्षति पहुंचाती है । आर्थिक दृष्टि से दीमक हर प्रकार की लकड़ी को भारी नुकसान पहुंचाती है । यह अपनी बाम्बियों में झुंड-बस्ती बनाकर, नेस्ट के रूप में अथवा पुरानी लकड़ी में, खोदी गई नालियों में रहती है । कुछ दीमकों का मुख्य भोजन लकड़ी ही होता है । इसलिए लकड़ी के अंदर रहने का इन्हें दोहरा लाभ है । इसमें उन्हें आहार व आवास दोनों ही मिलते हैं रात को जब नमी होती है तब वे अपनी बाम्बियों से बाहर निकलती हैं तथा उनके विस्तार का कार्य करती हैं। मिट्टी की सुरंग जमीन में, ईमारती लकड़ी में दूर-दूर तक जाती है । जिस स्थान की मिट्टी बलुई, हल्की और सूखी होती है, वहां दीमक का प्रकोप अधिक होता है । दीमक को दो वर्ग में रखा जा सकता है :

लकड़ी निवासी (Wood Dweller):

लकड़ी में रहने वाली दीमक कॅलोटरमीटिडी कहलाती है । इस जाति की दीमक का झुंड हमेशा पूरी तरह से लकड़ी में ही सीमित होता है। ये लकड़ी में कक्ष या नालियां तैयार करते हैं, लेकिन बाहर से ऐसा जाहिर नहीं हो पाता है कि उस लकड़ी में दीमक का निवास है ।

लकड़ी निवासी दीमक दो उप वर्ग में रखे गये हैं ।

गीली लकड़ी में रहने वाले दीमक :

इस जाति की दीमक गीली लकड़ी में झुंड के साथ प्रवेश करके उसमें नई बस्ती बसाती है । ये दीमक लकड़ी में हमेशा एक जैसी नमी चाहती है ।

सूखी लकड़ी पर रहने वाली दीमक :

सूखी लकड़ी में पलने वाली दीमक अच्छी सूखी लकड़ी पर ही अपनी बस्ती बसाना चाहती है । *बिफिडीटरमस* एवं *क्रिप्टोटरमस* नामक जाति की दीमक लकड़ी में नाली काटकर लकड़ी के छोटे-छोटे टुकड़े बाहर फेंकती है । इसी कारण उनका नाम पावडर पोस्ट टरमाइट रखा गया है ।

भूमि निवासी (Ground Dweller):

इस जाति की दीमक रीनोटरमीटिडी एवं टरमीटीडि कुल में आती है । इसमें दीमक को उनके नियमित जीवन क्रिया एवं प्रजनन के लिए भूमि आवश्यक होती है । इसी कारण वे अपनी बस्ती भूमि में बनाती है । भूमि निवासी दीमक तीन उपवर्ग में रखे जा सकते हैं :-

भूमि के नीचे रहने वाली दीमक (Subterranean termites):

इस जाति की दीमक इमारतों, कृषि, उद्यानिकी एवं वानिकी क्षेत्रों में सभी प्रकार के पौधों को नुकसान पहुंचाती है । इन दीमकों का घर या बस्ती भूमि पर ऊपर से दिखाई नहीं देते हैं, लेकिन ये दीमक उसी भूमि में रहती है ।

टीले तैयार करने वाले दीमक (Mound building termites):

इस जाति की दीमक भूमि के ऊपर पर टीले का भवन निर्माण करती है । जिसे बांबी कहते हैं । बांबी तैयार करने के लिए वे रेत के कण और अपनी लार का उपयोग करती है (ठाकुर, 2000)। *ओडॉटोटरमस* नामक जाति के दीमकों के बांबी भूमि पर करीब 2.5 मीटर उंचाई तक होते हैं । दीमक के बांबी अलग-अलग आकार एवं नाप के होते हैं । ये टीले दीमक की जाति पर निर्भर करते हैं कि कौनसी जाति किस प्रकार के पारिस्थितिकी मंडल तक सीमित है (हॅरीस, 1961) ।

कार्टन नेस्ट तैयार करने वाले दीमक (Carton nest building termites):

इस जाति की दीमक लकड़ी या पेड़ों पर खाये हुए पदार्थ, लकड़ी के टुकड़े एवं मिट्टी को मिश्रित करके कोशिकामय नेस्ट तैयार करती है । संग्रहित लकड़ी में दीमक का प्रकोप भूमि से होता है । इसमें दीमक छिपकर लकड़ी में छेद या खोह बनाकर उसके ऊपर मिट्टी के लेप प्लास्टर जैसे बनाती है ।

जीव पारिस्थितिकी एवं जीवन वृत्त :

यह जमीन के नीचे रहने वाले कोमल मटमैले रंग, जिसमें क्रमिक रूपांतर पाया जाता है, सामाजिक कीट है । यह कॉलोनी बनाकर रहती है । इनमें आपस में उत्तम प्रकार का समन्वय होता है । कार्यो के आधार पर इनमें जाति भेद होता

है । श्रमिक, सिपाही और प्रजनन करने वाली तीन प्रकार की दीमकें होती हैं । मजदूर दीमकें ही पौधशालाओं व घरों में नुकसान पहुंचाती हैं । सिपाही दीमकें इनकी रक्षा के लिए इनके साथ चलती हैं । इनकी अधिकतर प्रजातियों में एक ही राजा-रानी होती है, जो एक सुरक्षित स्थान रॉइअल चेंबर में रहती है । राजा रानी का कार्य प्रजनन करना ही होता है । बरसात के दिनों में भूरे-काले रंग के कीट जो (Alate) आकाश में चारों ओर मंडराते हैं । पक्षी इन्हें बड़े चाव से खाते हैं। ये दीमक की प्रजनन करने वाली जातियां ही हैं, जो भविष्य के राजा या रानी हैं। ये नया जोड़ा बनाकर नई कॉलोनी का निर्माण करते हैं ।

दीमक समुदाय कीट दो भागों में सुगमता से विभक्त किए जा सकते हैं । 1. प्रजननशील 2. बन्ध्या । प्राथमिक प्रजननशील जिसमें गहरे रंग की नर एवं मादा होती हैं । इनमें चार पंख होते हैं । और जिन्हें राजा तथा रानी की संज्ञा दी जाती है । इनकी लंबी अंगीकाएं, गोल सिर, दीर्घ मस्तिक, चर्वन करने वाले मुखांग तथा सुविकसित प्रजनन अंग पाए जाते हैं । इनके शरीर का गठन क्षणिक उडान हेतु उपयुक्त एवं नवीन समुदाय के प्रस्थान के योग्य होता है । पंख लंबे, पारदर्शी तथा अप्रमेध शिराओं वाले होते हैं । अगले एवं पिछले पंख आकार एवं स्वरूप में समान होते हैं । वृंदन के समय वे अपने स्थान से निर्गमन कर कुछ काल के लिए उडान करते हैं । उडान के समय रानी और नर एक दूसरे से मिलते हैं । दीमक की विभिन्न प्रजातियों में वृंदन

काल की ऋतु तथा समय में असमानता पाई जाती है । उत्तरजीवी कीट अपनी उड़ान समाप्त करने के बाद पंखों का त्याग कर देते हैं और ऐसे उपयुक्त स्थान की खोज में निकल पड़ते हैं जहाँ वे नए समुदाय की स्थापना कर सकें। उपयुक्त रानी 30–80 हजार अंडे प्रतिदिन उनके वर्षों तक देती रहती है । जिन्हें श्रमिक दीमक उचित स्थान पर उठा ले जाते हैं । रानी व राजा समुदाय के नियंत्रक न होकर केवल प्रजनन ही करते हैं । एक समुदाय में प्रायः एक ही रानी पाई जाती है । किंतु दीमक की कुछ ऐसी जातियाँ हैं, जिनमें दो या तीन रानीयाँ और उतने ही नर पाए जाते हैं । यदि किसी समुदाय में रानी की आकस्मिक मृत्यु हो जाए या दुर्घटनाग्रस्त हो जाय तो उनके अविकसित अरमक प्रौढ़ हो जाते हैं और उनका नवप्रारूप अंडा देने का कार्य प्रारंभ कर देता है । अनुपूरक प्रजनक तभी उत्पन्न होते हैं, जब किसी मूल प्रजनक की मृत्यु हो जाती है । ऐसे समुदाय में न तो समक्षीय कीट उत्पन्न होते हैं न वृंदन कार्य ही संपन्न होता है । पंखहीन श्रमिक का दूसरी बार निर्मोचन के पश्चात् इस प्रकार पालन किया जाता है कि वे अधिक बढ़ न सकें । कभी–कभी उनके शरीर कुछ–कुछ पारदर्शी होते हैं । इनकी अंगिकाएं बड़ी, चवर्ण करने वाले मुखांग, छोटे नेत्र या कभी–कभी नेत्रहीन होते हैं ।

दीमक के श्रमिक वर्ग में नर एवं मादा दोनों ही उपस्थित रहते हैं । एक दीमक समुदाय में 1 लाख तक दीमकें होती हैं । इनमें से ज्यादातर श्रमिक होती हैं, जो

सिपाही दीमकों को भी खिलाती हैं और अंडों तथा अविकसित अर्भकों का पालन करती हैं । दीमक द्वारा सभी प्रकार की हानि का उत्तरदायित्व दीमक के श्रमिक वर्ग को ही है । एक समुदाय में छोटे–बड़े दोनों ही प्रकार के श्रमिक वर्ग दृष्टिगोचर होते हैं । उनकी शारीरिक असमानता विभिन्न प्रकार के कार्यों की सम्पन्नता हेतु ही होती है, पंखहीन सैनिक जो कि नर एवं मादा दोनों ही प्रकार के अर्भकों का प्रारूप हैं श्रमिक के ही समान हैं किंतु उनकी शारीरिक संरचना में विभिन्नता पाई जाती है । सैनिकों के शरीर का आकार श्रमिकों की अपेक्षा सुविकसित होता है । इनमें काईटिणीकृत या मैबिबुल और लाटिका ग्रंथी से संयुक्त सूत्र नलिकाएं होती हैं। जिनसे वे विषाक्त तरल पदार्थ अपने शत्रुओं के उपर सरलता पूर्वक फेंक सकते हैं । सैनिकों का मुख्य कार्य अपने समुदाय की प्रतिरक्षा का है । एक ही समुदाय में अनेक प्रकार के सैनिक एक ही साथ पाए जाते हैं ।

लकड़ी को खाना व पचाना श्रमिक दीमकों के बूते का ही है क्योंकि उनकी आंतों में इस काम को अंजाम देने के लिए खास सूक्ष्म वनस्पति एवं जीव (माइक्रोफ्लोरा एवं फाउना) होते हैं जो लकड़ी को हजम करने वाले एंजाइमस बनाते हैं । पचाई हुई लकड़ी की लुगदी वे मुंह से निकाल देते हैं, जिसे सिपाही दीमक चट कर जाते हैं । इसके एवज में सिपाही दीमक अपने जबरदस्त जबड़ों से दुश्मन पर हमला बोलकर दीमकों की बस्ती की रक्षा करते हैं । जब ये सिपाही भी लड़ाई में मारे जाते हैं, तो इनकी

संख्या कम होते ही श्रमिक दीमकों की देह से एक खास हार्मोन निकलता है जो मजदूरों की काया पलट देता है और धीरे-धीरे उनका मजदूर श्रमिक सिपाही के चोले में बदल जाता है एक बार अपेक्षित संख्या में सिपाही बन गए तो हार्मोन निकलना अपने आप बंद हो जाता है । इस हार्मोन को 'मेथोप्रीन' कहते हैं । इसे अब प्रयोगशाला में बनाया जा रहा है । इसका असर भी बिल्कुल कुदरती हार्मोन की तरह ही होता है । इस समय करीब आधे मजदूरों के श्रमिक, सिपाही-दीमकों में बदल जाते हैं । नतीजा यह होता है कि सिपाहियों का पेट भरने वाले श्रमिकों की कमी पड़ जाती है । भूखे सिपाही फटाफट मरने लगते हैं । बचे हुए श्रमिक भी खाना पचाने की क्षमता खो देते हैं, क्योंकि आंतों में जो जीवाणु लकड़ी पचाता है, उसे भी 'मेथोप्रीन' हार्मोन मार देता है । यह प्रयोग अमेरिकी वन आयोग के वैज्ञानिक कर रहे हैं (मेश्राम, 2000) ।

दीमकों का मुख्य भोजन लकड़ी है । लकड़ी में अधिकांश भाग सैल्यूलोज का होता है । अन्य जंतुओं द्वारा सैल्यूलोज का पाचन सुगमता से नहीं हो पाता है किंतु दीमक के पाचन तंत्र में ऐसे प्रोटोजोआ उपस्थित रहते हैं, जिनके द्वारा सैल्यूलोज सुपाच्य हो जाता है । विशेष जाति की दीमक अपने नीडमें कवकों का उद्यान स्थापित करती हैं ।

प्रभावित प्रजातियां :

कृषि, उद्यानिकी एवं वानिकी क्षेत्रों में सभी प्रकार के पौधे इसमें औषधीय, सुगंधित

पौधों एवं सभी प्रकार की जलाउ एवं ईमारती लकड़ी आदि ।

नियंत्रण :

वन रोपणी/वन रोपवन में

1. वन रोपणियों/रोपवन क्षेत्रों के आसपास दीमकों की बाम्बियों को नष्ट कर देना चाहिए । इनके लिए क्लोरपायरीफास नामक दवा 0.1 प्रतिशत 20 ई.सी. का 5 मिली दवा एक लीटर पानी में घोल बनाकर डालना चाहिए । 5 लीटर घोल 10 वर्ग फीट क्षेत्रफल के लिए पर्याप्त है । बाम्बियों को ढूँढकर सब्बल से बीचों बीच करीब एक मीटर गहराई का छिद्र कर उसमें घूमकों का प्रयोग करना चाहिए अथवा क्लोरपायरीफास (5 मिली दवा प्रति लीटर पानी में घोल बनाकर) 50-100 लीटर घोल प्रति बाम्बी के हिसाब से डालकर बाम्बी को नष्ट करें ।
2. गोबर की अच्छी सड़ी खाद का ही वन रोपणियों में प्रयोग करें । स्वस्थ पौधों का ही रोपण हेतु प्रयोग करें ।
3. रोपणी तैयार करते समय ढूँठों को एकत्रित करके नष्ट कर देना चाहिए । पत्तियों आदि को हो सके तो एक गड्ढे में डालकर कम्पोस्ट बना लेना चाहिये ।
4. क्लोरपायरीफास 20 ई.सी. 0.1 प्रतिशत पानी में घोलकर फव्वारा द्वारा डालने से दीमकों का नाश हो जाता है ।
5. क्लोरपायरीफास 20 ई.सी. या इंडोसेल 35 ई.सी. 142.86 मिली दवा का 50 लीटर पानी में मिलाकर यह घोल को

- बीज बुवाई के पहले 10×1 मी. की क्यारियों में दीमकों से बचाव के लिए भी प्रयोग किया जाता है ।
6. पॉलीथीन की थैलियों में इंडोसेल या क्लोरपायरीफास 0.1 प्रतिशत का घोल या 3 या 5 मि.ली. दवा प्रति लीटर पानी में घोलकर 20 थैलियों (आकार 20×10 से.मी.) प्रति लीटर के अनुसार भिगो दें ।
 7. वन बीजों का क्लोरपायरीफास 20 ई.सी.उपचारित करवाने से दीमक का प्रभावकारी नियंत्रण होता है । रूट शूट या राइजोम को 0.1प्रतिशत क्लोरपायरीफास घोल में डूबोकर लगाने से दीमक का नियंत्रण होता है और अंकुरण भी बढ़ता है ।
 8. वन अनुसंधान संस्थान, देहरादून में किए गए परिक्षणों में क्लोरपायरीफास के पायरीकरण सान्द्र 20 ई.सी. का 0.3 प्रतिशत घोल वन रोपणियों में यूकेलिप्टस पौधों को दीमकों के प्रकोप से बचाने में प्रभावकारी पाया गया है । (ठाकुर आदि, 1989) । 50 पॉलीथीन की थैलियां जिनमें पहले से ही पौधे लगे हैं, को आपस में सटाकर रखने के उपरांत उनमें फुआरे से उपरोक्त कीटनाशक घोल का छिड़काव कर दिया जाता है । किसी पेंसिल या छड से थैलियों में छेद करने से घोल थैली की मिट्टी में अच्छी प्रकार मिल जाता है । यह विधि भी पौधों के रोपणी में दीमक के प्रकोप से बचाने में प्रभावकारी सिद्ध हुई है ।
 9. जून से अगस्त तक वन रोपणियों में प्रकाश पिंजरों (लाइट टेप) की सहायता से पंख युक्त जाति को पकड़कर नष्ट किया जा सकता है ।
 10. औषधीय एवं सुगंधित पौधों में उपरोक्त कीटनाशक दवा का प्रयोग न करे। कीटनाशक दवाओं के अवशेष पौधों में जमा होते हैं और पौधों के कच्चे माल के स्रोत पर काफी प्रभाव पड़ता है । इसमें औषधीय एवं सुगंधित पौधों के दवाओं की गुणवत्ता पर भी काफी प्रभाव पड़ता है। इन पौधों पर यदि दीमक का प्रकोप हुआ तो जैव कीटनाशक का ही प्रयोग करना चाहिए ।
- उदाहरण :—। नीम या करंज की खली 10 किलो प्रति क्यारी 10×1 मीटर के हिसाब से डालना चाहिए ।
11. बाजार दवा यें जैसे निम्लीन, निम्बीसीडीन आदि 5 मिली प्रति लीटर पानी में घोलकर पौधों के आसपास डाले ।
 12. 1कि. नीम एवं मदार की पत्ति यों को 10 लीटर पानी में उबालकर इस मिश्रण को ठंडा करके कपडे से छाने इसमें 500 ग्राम गुड डाले । इस मिश्रण को दीमक की जगह डालने से फायदा देखा गया है । (मेश्राम, 2005)
- वृक्ष :**
- वृक्ष 0.2 प्रतिशत घोल बनाकर डालने से दीमक का नियंत्रण होता है । (ठाकुर, 2000)

- मार्ग के दोनों ओर छायावृत वृक्षों के तने पर क्लोरपायरीफास 5 मि.ली. का बूझे चूने के साथ प्रति लीटर पानी में मिलाकर पोत देने या डामर को केरोसीन में मिलाकर पोतने से दीमकों से बचाव होता है ।

दीमक के टीले :

दीमक के टीले को लोहे के रम्मे से तोड़कर उसमें क्लोरपायरीफास या इंडोसेल नामक दवा का प्रयोग करना चाहिए । 91 से.मी. उंचाई के टीले के लिए 4.5 लीटर दवा पर्याप्त है ।

काष्ठागारों में :

काष्ठागारों में लकड़ी के अच्छे रख-रखाव एवं दीमक से बचाव हेतु निम्नानुसार बचाव करना चाहिए। 1. लकड़ी का चट्टा या ढेर जमाने के लिए जमीन पर कंक्रीट सीमेंट से बना हुआ चबूतरा या पत्थर या लोहे के पट्टे का उपयोग करना चाहिए। 2. इसकी नियमित देखभाल करना चाहिए। 3. काष्ठागार या डिपो की जगह को साफ करके दीमकों की बाम्बियों को ढूँढकर नष्ट कर देना चाहिए । इसके लिए इंडोसेल या क्लोरपायरीफास के 0.1 प्रतिशत घोल को डालना चाहिए । 5-6 लीटर घोल करीब 10 फीट क्षेत्रफल के लिए पर्याप्त है या बाम्बियों में सब्बल से बीचोंबीच करीब एक मीटर गहराई का छिद्र कर उसमें धुमकों कार्बनडायसल्फाइड क्लोरोफार्म का मिश्रण का प्रयोग करना चाहिए अथवा

क्लोरपायरीफास 5 मिली दवा प्रति लीटर पानी में मिलाकर 50-100 ली. घोल प्रति बाम्बी के हिसाब से डालकर बाम्बी को नष्ट करें ।

भवन :

- भवन बनाने से पहले दीमक के सक्रिय खाद्य पदार्थ में जैसे लकड़ी के टूठों तथा जड़ खुदाई करके भवन निर्माण के स्थान से करीब 50 मीटर दूर तक फेंक देना चाहिए ।
- भवन बनाने के स्थान पर जमीन की खुदाई होने के बाद मिट्टी पर क्लोरपायरीफास या लीनडेन 20 ई.सी. नामक दवा 7.5 लीटर प्रति वर्ग मी.के हिसाब से घोल बनाकर डालना चाहिए ।
- भवन के चारों ओर 30 से.मी. चौड़ी एवं 45 से.मी. गहरी नाली खोदकर उसमें क्लोरपायरीफास का 0.1 प्रतिशत (20 ई.सी. का 5 मिली दवा एक ली. पानी में घोल बनाकर) घोल डालना चाहिए ।
- भवन कार्य हेतु उपयोग की गई लकड़ी को बचाने के लिए सफेद आरसेनिक, पॅरिस ग्रीन, कॉलशियम साइनाइड, क्रेओसोट का लेप लगाना चाहिए या प्रतिरोधी प्रजातियां की लकड़ी का ही उपयोग करना चाहिए ।

संदर्भ :

जोशी, के.सी. (1992). हैंड बुक ऑफ फारेस्ट जूलॉजी एंड एंटोमोलाजी

ओरियंटल एंटरप्राइजेस 25 ए कालीदास रोड, देहरादून पृष्ठ सं. 384

ठाकुर, एम. एल., एस कुमार, ए नेगी एवं डी. एस. रावत (1989). केमिकल कंट्रोल ऑफ टरमाइट्स इन यूकेलिप्टस हायब्रिड इंडियन फारेस्टर 115:10, 733–744.

ठाकुर, एम. एल. (2000). फारेस्ट इंटोमोलाजी (इकोलॉजी एंड मेनेजमेंट) पृष्ठ संख्या 326–379.

मेश्राम, पी0 बी0, पाठक, एस. सी. एवं जमालुद्दीन (1990). इफेक्ट ऑफ सम साइल इंसेक्टीसाइड्स इन कंट्रोलिंग द मेजर इंसेक्ट पेस्ट इन टीक नर्सरी इंडियन फारेस्टर 116:3:206–213

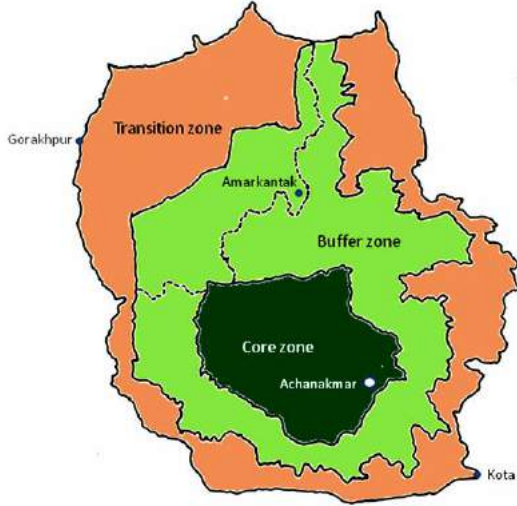
मेश्राम, पी0 बी0, (2000). वन के हानिकारक कीट व उनका नियंत्रण में खन्ना बंधु 7 तिलक मार्ग, देहरादून पृष्ठ संख्या 116.

अचानकमार – अमरकंटक बायोस्फियर रिजर्व – एक परिचय

डॉ. रूबी शर्मा*, डॉ. राजेश कुमार मिश्रा एवं डॉ. एन. रॉयचौधुरी

उष्णकटिबंधीय वन अनुसंधान संस्थान, जबलपुर

*पूर्व महिला वैज्ञानिक 'बी', अचानकमार-अमरकंटक बायोस्फियर रिजर्व के अन्तर्गत विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग की परियोजना, उष्णकटिबंधीय वन अनुसंधान संस्थान, जबलपुर



जैव विविधता को बढ़ावा देने के उद्देश्य से यूनेस्को के मानव एवं बायोस्फियर कार्यक्रम के तहत भारत सरकार के पर्यावरण व वन मंत्रालय द्वारा छत्तीसगढ़ के अचानकमार तथा मध्यप्रदेश के अमरकंटक क्षेत्र को 30 मार्च 2005 को प्रदेश का दूसरा तथा देश का 14 वां बायोस्फियर रिजर्व क्षेत्र घोषित किया। इस योजना का मुख्य उद्देश्य जैव विविधता से सम्पन्न क्षेत्रों, अद्भुत व प्रतिनिधित्व करने वाले पारिस्थितिक तन्त्र की पहचान कर उन्हें बायोस्फियर रिजर्व घोषित करना है।

अचानकमार-अमरकंटक क्षेत्र मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ राज्य के बीच एक अन्तर्राज्यीय बायोस्फियर रिजर्व है। 3835.51 वर्ग कि.मी. में फैले इस बायोस्फियर रिजर्व का

31.90 प्रतिशत क्षेत्र मध्यप्रदेश में तथा शेष 68.10 प्रतिशत छत्तीसगढ़ राज्य में शामिल हैं। मध्यप्रदेश के दो जिले अनूपपुर में 16.20 प्रतिशत, डिण्डौरी में 15.70 प्रतिशत तथा छत्तीसगढ़ राज्य के बिलासपुर जिले में 68.10 प्रतिशत आता है। इस बायोस्फियर रिजर्व क्षेत्र के तहत म.प्र. के अमरकंटक पठार पर प्रचुर मात्रा में वनस्पतियां पाई जाती हैं। अमरकंटक पठार एवं अचानकमार घाटी विशेषतः औषधीय पौधों के विकास के लिए मानक पर्यावरणीय दशाओं से परिपूर्ण है। फर्न, आर्कडिस, ब्रायोफाइट्स, शैवाल आदि अनेकों महत्वपूर्ण पेड़-पौधे इस क्षेत्र में पाए जाते हैं। इसलिए इस क्षेत्र को इन दुर्लभ प्रजातियों का जीन बैंक कहा जाता है। अचानकमार-अमरकंटक बायोस्फियर रिजर्व देश का चौदहवां बायोस्फियर रिजर्व है। अचानकमार-अमरकंटक बायोस्फियर रिजर्व मध्य भारत में स्थित है। जो कि छत्तीसगढ़ एवं मध्यप्रदेश में 3836.5 कि० मी० तक फैला हुआ है। यह मैकल पर्वत श्रेणी से लेकर विंध्य व सतपुड़ा पर्वत श्रृंखलाओं के जंक्शन तक

फैला है। इसका नाम यहाँ स्थित अचानकमार अभ्यारण के (यह जीव मंडल का कोर जोन है) तथा (अमरकंटक जो कि पवित्र नदियाँ नर्मदा, सोन तथा जोहिला का उद्गम स्थल है) के नाम पर रखा गया है। अमरकंटक, बायोस्फियर रिजर्व के बफर जोन के अंतर्गत आता है तथा यह हिन्दू, जैन व सिख समुदायों के लिए पवित्र स्थल है। यहाँ कई प्राचीन मंदिर जैसे नर्मदा मंदिर, शिव, सूर्यनारायण मंदिर, दुर्गा मंदिर, आदि स्थित है।

इस बायोस्फियर रिजर्व में निम्न प्रकार के उष्णकटिबंधीय पर्णपाती वन पाये जाते हैं। शीतोष्ण मिश्रित पर्णपाती वन, उष्णकटिबंधीय शुष्क पर्णपाती वन व शुष्क मिश्रित पर्णपाती वन व इसके अन्य प्रकार पाये जाते हैं।

जैव विविधता की दृष्टि से यह बायोस्फियर रिजर्व बहुत ही समृद्ध है। यहाँ विभिन्न प्रकार की वनस्पति का आवास है जिसमें सूक्ष्म व बड़े जानवर विचरण करते हैं। अभी तक 1527 प्रजाति की वनस्पतियों की पहचान की जा चुकी है। जिसमें 317 थैलोफाइट, 44 ब्रायोफाइट, 40 टेरेडोफाइट, 16 अनावृत बीजी व 1111 आवृत बीजी प्रजातियाँ हैं। बायोस्फियर रिजर्व में कुल 324 प्रजातियों के वन्य जीवों की पहचान की जा चुकी है। वन्य जीवों में बाघ, तेंदुआ, मौर, भालू,

चीतल, घुटरी, जंगली बिल्ली, लोमड़ी, जंगली कुत्ता, नील गाय, सांभर, चौसिंघा आदि प्रमुखता से पाये जाते हैं।

बायोस्फियर रिजर्व में मुख्य रूप से साल वृक्ष हैं जिसमें बीच-बीच में अन्य प्रजातियाँ भी पायी जाती हैं। साल वृक्षों की अधिकता के कारण आद्र वातावरण निर्मित होता है जिससे की वर्षा भी अधिक मात्रा में होती है यह सब अन्य प्रजातियों के विकास में सहायक होते हैं। साल के साथ उगने वाली मुख्य सहायक प्रजातियाँ हैं – साजा, बीजा, धवा, कसई, लेंडिया आदि तथा कई प्रकार के झाड़ी, आरोही व छोटी शाकीय पौधे भी विकसित होते हैं। यहाँ पायी जानी वाली वनस्पतियों में 518 ऐसी प्रजातियाँ हैं जो कि भोजन, औषधीय व अन्य उपयोग की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। अतः बायोस्फियर रिजर्व यहाँ के निवासियों तथा पर्यटकों के प्राकृतिक, अध्यात्मिक व आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करता है।

प्रकृति एवं प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण हेतु कार्य कर अंतर्राष्ट्रीय संघ के द्वारा बायोस्फियर रिजर्व को संरक्षित क्षेत्र की पांचवीं श्रेणी में रखा गया है। इसका मुख्य उद्देश्य जैव विविधता संरक्षण, जैव विविध प्रजातियों की अनुवांशिक भिन्नता तथा प्राकृतिक अस्तित्व का बचाव एवं इनका सतत् उपयोग है। इसमें स्थानीय

जनसमुदाय के आर्थिक विकास में सुधार लाने के लिए उपयुक्त तकनीक का प्रयोग एवं जनसमुदाय को शिक्षण एवं प्रशिक्षण द्वारा आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति में सहयोग प्रदान करना भी सम्मिलित है। अचानकमार-अमरकंटक बायोस्फियर रिजर्व योजना के तहत जैव विविधता के संरक्षण के साथ ऐसे विकास कार्य किए जाते हैं जो स्वपोषी होने के साथ-साथ वहां के रहवासियों को आवश्यक रोजगार एवं आर्थिक सहायता उपलब्ध करा सकें एवं साथ ही साथ जैव विविधता का संरक्षण भी हो सके।



संस्थान अचानकमार - अमरकंटक बायोस्फियर हेतु एक लीड इन्स्टीट्यूट के रूप में कार्य कर रहा है। अचानकमार - अमरकंटक बायोस्फियर रिजर्व के संबंध में विस्तृत जानकारी संस्थान की वेब साइट (<http://tfri.icfre.org>) पर उपलब्ध है। इच्छुक व्यक्ति अचानकमार - अमरकंटक बायोस्फियर रिजर्व के तहत संस्थान द्वारा कराये जा रहे कार्यों, चलाई जा रही परियोजनाओं एवं कराये जा रहे प्रकाशन के

संबंध में जानकारी प्राप्त कर लाभ उठा सकते हैं। विश्व के 20 नए बायोस्फियर क्षेत्रों में 'अचानकमार-अमरकंटक बायोस्फियर रिजर्व' को शामिल करने से इस क्षेत्र में विश्व स्तरीय शोध व अंतरराष्ट्रीय पर्यटन की संभावनाएं बढ़ गई हैं। पेरिस में 9 से 13 जुलाई तक हुए मैन एंड बायोस्फियर प्रोग्राम (एमएबी) में अचानकमार बायोस्फियर को जोड़ने के बाद अब यह विश्वभर के बायोस्फियर क्षेत्रों के मानचित्र में अपनी पहचान बना चुका है।

अचानकमार बायोस्फियर अविभाजित मध्यप्रदेश के समय से देश और विदेश में जैव विविधता के स्वर्ग के रूप में जाना जाता रहा है। केंद्रीय वन एवं पर्यावरण मंत्रालय ने मार्च 2005 में देश के 14 वें बायोस्फियर के रूप में अचानकमार-अमरकंटक बायोस्फियर रिजर्व की घोषणा की थी, परंतु प्राचीनकाल से यह देवभूमि के रूप में विख्यात है। तीन पवित्र नदियों नर्मदा, जोहिल्या व सोन का उद्गम स्थल होने के कारण इस क्षेत्र की गिनती धार्मिक तीर्थ में होती है। इसके अतिरिक्त इसकी खास पहचान यहां पाए जाने वाले दुर्लभ जीव, जंतु, वनस्पतियां और जनजातियों से होती है। इसका भौगोलिक क्षेत्रफल 3835 वर्ग किलोमीटर है, जिसमें 551 वर्ग किलोमीटर का कोर एरिया, 3283 वर्ग किलोमीटर बफर व ट्रांजीशन जोन है। इसमें छत्तीसगढ़ के बिलासपुर व मरवाही वन

मंडल तथा मध्यप्रदेश के डिंडोरी व अनूपपुर वन मंडल शामिल हैं।

बायोस्फियर के अंतर्गत 16 वर्ग किलोमीटर का क्षेत्र माइक्रो क्लाइमेट सदियों से सुरक्षित है। मानव आबादी के विस्तार तथा जैविक दबाव के बावजूद इसका सुरक्षित रखना अनूठी बात है। एमएबी नेटवर्क में अचानकमार बायोस्फियर को शामिल करने के पीछे इसकी कई विशेषताओं में शायद यह प्रमुख विशेषता मानी गई होगी। अमरकंटक से केंवची तक 16 किलोमीटर की तलहटी का क्षेत्र पूरे देश में अपनी खास पहचान रखता है। दुर्लभ जटाशंकर पेड़ यहीं पाया जाता है। इसे अन्य क्षेत्रों में रोपने की कोशिश सफल नहीं हुई, क्योंकि अमरकंटक बायोस्फियर की भूमि, जलवायु की खासियत की वजह से ही जटाशंकर यहां उपजता है।

अचानकमार बायोस्फियर के अंतर्गत बाघ, तेंदूआ, बाइसन, भालू, हिरण, चौसिंघा, चीतल सहित 325 प्रकार के वन्यप्राणियों का अनूठा संसार है। इसमें दुर्लभ उडन गिलहरी, काला तेंदूआ, माउस डियर आदि प्रमुख हैं। बायोस्फियर रिजर्व में 1527 पादप प्रजातियां पाई जाती हैं। इसमें 317 थैलोफाइट, 44 टेरेडोफाइट, 16 जिम्नोस्पर्म, 1111 एन्जियोस्पर्म शामिल हैं। लहरदार पहाड़ियां बायोस्फियर की शोभा में चार चांद लगाती हैं। साल, बांस, सागौन सहित लें डिया, कुसुम, जामुन, महुआ, आंवला, बेल, करी, तेंदू आदि मिश्रित प्रजाति के पेड़ों के घने

जंगल हैं, जो गर्मियों में भी जंगल की आबोहवा को सदाबहार रखने में मदद करते हैं। रिजर्व के अंतर्गत सिंहावल

सागर, झंडी डोंगरी, रक्षा सार, टंगली पठार, कुंभी पानी आदि प्रमुख पर्यटन स्थल हैं। पूरे बायोस्फियर के अंतर्गत 238 राजस्व वन ग्राम सम्मिलित हैं, जिनमें लगभग 27 जनजातियों के लोग निवासरत हैं। इसमें बैगा, कोल, कंवर, प्रधान, गोंड आदि प्रमुख जनजातियां शामिल हैं।

अचानकमार बायोस्फियर के अंतर्गत अनेक दुर्लभ औषधीय वनस्पतियां पाई जाती हैं। इनकी खोज में साधु-संत से लेकर वैद्य, वैज्ञानिक आदि पहुंचते हैं। इनमें दहीमन, जटाशंकरी आदि प्रमुख हैं। वैज्ञानिक खोजों के दौरान कुरुरमुत्ते की सर्वाधिक प्रजातियां यहीं पाई गई हैं। जानकारों के मुताबिक कई जड़ी बूटियां ऐसी हैं, जो सिर्फ अमरकंटक में पाई जाती हैं। छत्तीसगढ़ एवं मध्यप्रदेश के इस संयुक्त बायोस्फियर के अंतर्गत किए जाने वाले शोध, दुर्लभ जीव जंतुओं, वनस्पतियों के विषय में जानकारी संग्रहित करने के लिए उष्णकटिबंधीय वन अनुसंधान संस्थान (टीएफआरआई) जबलपुर को वैज्ञानिक जानकारी प्रबंधक बनाया गया है। यहां 28 प्रकार की दुर्लभ वनौषधियां पाई जाती हैं। इनमें कालमेघ, तेजराज, मलकानगिरी, हर्षा, मैडा, भृंगराज, जंगली प्याज आदि शामिल हैं।

An overview of adaptive cluster sampling in estimating rare species

Girish Chandra and Raman Nautiyal

Division of Forestry Statistics,
Indian Council of Forestry Research and Education, Dehradun, India

1. INTRODUCTION

Thompson (1990) introduced the Adaptive cluster sampling as an efficient sampling procedure for estimating totals and means of rare and clustered populations. In adaptive cluster sampling, an initial sample of units is selected by some ordinary sampling scheme, and, whenever the variable of interest of a unit in the sample satisfies a previously specified condition 'C', neighbouring units are added to the sample. If any of the newly added units satisfy 'C', units in their neighbourhoods are also added until the sample includes all the neighbours of any unit satisfying the condition 'C'. As noted by Thompson (1990), an adaptive cluster sampling scheme can be used to investigate a rare contagious disease. First of all, a simple random sample of people are selected and tested for the disease. If a person tests positively, then all the friends and contacts of that person are also tested. If one of the contacts tests positively, then all that person's contacts are tested, and so on. Roesch (1993) used the design for a survey of forest trees. Thompson and Seber (1996) described some examples of rare species, rare diseases and environmental pollution studies where the use of adaptive sampling scheme can be highly beneficial. The condition for extra sampling might be the presence of the rare animal or plant species, high abundance of a spatially clustered species, detection of "hot spots" in an environmental pollution study, high concentration of mineral ore or fossil fuel, observation of a rare

characteristic of interest in a household survey, and so on.

In the present paper, we described an adaptive cluster sampling theory based on simple random sampling. Details of the design with the notations used are given in the Section 2. Section 3 describes the estimators of the population mean. In Section 3.1, the estimator based on only initial sample, has been considered. Section 3.2 deals with an estimator based on initial intersection probabilities along the lines of Thompson (1990). Improvement of the estimators using the Rao-Blackwell theorem has been attempted in Section 3.3.

2. THE SAMPLING DESIGN

Suppose that we have a finite population of N units with labels $1, 2, \dots, N$ and with associated variables of interest $\mathbf{y} = (y_1, y_2, \dots, y_N)$. Our interest is to estimate the population mean of the y -values, given by $\mu = \frac{1}{N} \sum_{i=1}^N y_i$. To define

the neighbourhood of each unit i , we say that if i is a neighbourhood of the unit j then unit j is also the neighbourhood of unit i . A typical neighbourhood might be the unit itself together with the four units with common boundaries, when the whole population is arranged in a systematic grid pattern. Thus a neighbourhood of unit i consists of five units in a cross shape shown in Figure 1. The neighbourhoods do not depend on the y -values of population. The unit i is said to satisfy the condition of interest C if the associated y -value (y_i) is in a specified set C .

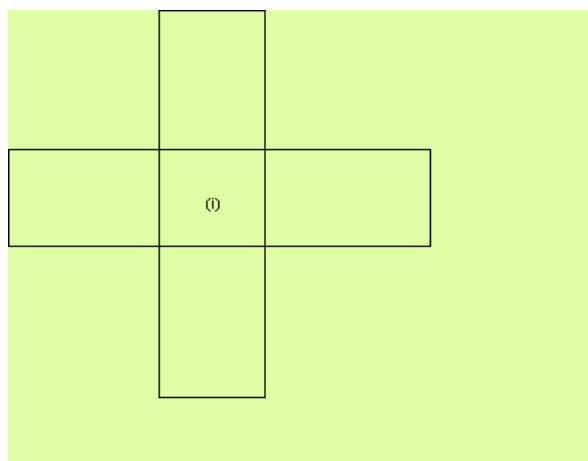


Figure 1 Neighbourhood of Unit i for Grid Pattern Population

These boundary units of each cluster are called edge units. The final sample then consists of n (not necessarily distinct) clusters, one for each unit selected in the initial sample.

An example is illustrated in Figure 2, in which the aim is to estimate the concentration of the contamination level of the pollution over a specified site. The population (site) is divided into 10×10 square plots; each plot is a unit of the population. The y -value of unit i represents the contamination level and is

demonstrated in each cell in Figure 2. A unit satisfies the condition of interest C if it contains contamination level greater than or equal to 1, i.e. $y_i \geq 1$. Three units are drawn using simple random sampling without replacement from the population. This initial sample of units is shown by '**bold and underlined**' outline. Applying the second phase of the design gives the final sample, which is shown in by '**bold**' outline in addition to '**bold and underlined**' outlined units. Black shaded units are the edge units of the networks.

0.32	0.8	<u>1.1</u>	2.3	5	0.46	0.13	0.59	0.32	0.35
0.56	0.6	5	2.98	4.9	0.35	0.14	0.47	0.56	0.65
0.37	0.46	4	1.25	0.96	0.65	<u>0.92</u>	0.56	0.37	0.96
0.98	0.35	0.38	0.29	0.87	0.96	0.86	0.69	0.98	0.87
0.47	0.65	0.56	0.38	0.57	0.87	0.13	0.38	0.47	0.57
0.34	0.96	0.68	0.65	0.68	0.57	0.34	3.3	0.34	0.68
0.53	0.87	0.38	5.69	0.28	0.38	0.59	1.56	2.85	4
0.38	0.57	0.37	1.35	4.5	<u>5.00</u>	0.47	4.00	0.35	0.14
0.58	0.68	0.39	7	4	0.28	0.56	0.36	0.98	0.28
0.34	0.28	0.8	2	2.5	0.27	0.69	0.26	0.97	0.26

Figure 2. Initial Sample (Bold and Underlined Outline) and Final Sample (Initial Sample Plus 'Bold and Underlined' Units)

The population may be partitioned into K sets of units, termed as networks, such that selection in the initial sample of any unit in a network will result in inclusion in the final sample of all units in that network. Actually the network A_i for unit i is defined to be the cluster generated by unit i but with the edge units removed. If unit i is the only unit in a cluster satisfying C , then A_i consists of just unit i and forms a network of size one. Any unit that does not satisfy C to be a network of size one, as its selection does not lead to the inclusion of any other units. This means that all clusters of size one are also networks of size one. Here we should note that any cluster consisting of more than one unit can be split into a network and further networks of size one, as each edge units are the networks of size one. It is also clear that all the K networks are disjoint.

Let the final reduced sample is denoted by the unordered set $s = \{s_1, s_2\}$, where s_1 is the set of n unordered labels from the initial sample (which are distinct, as sampling is without replacement in the first phase), and s_2 is the set of distinct unordered labels from the remainder of the sample s . The sampling design is a function $p(s|y)$ assigning a probability to every possible sample s . In designs such as those described in this paper, these selection probabilities depend on the population y -values. Let m_i denote the number of units in A_i , and let a_i , denote the total number of units in networks of which unit i is an edge unit. If unit i satisfy C , then $a_i = 0$, while if unit i does not satisfies C , then $m_i = 1$. The probability that the unit i is included in the sample s_1 is given by,

$$p_i = \frac{m_i + a_i}{N}$$

The probability that unit i is included in the sample s is

$$\pi_i = 1 - \left[\frac{\binom{N - m_i - a_i}{n}}{\binom{N}{n}} \right] \quad (2.1)$$

3. ESTIMATORS OF THE POPULATION MEAN

Generally with the adaptive cluster sampling designs, standard estimators of the population mean and total are not unbiased. However, the classical estimators such as the sample mean \bar{Y} based on simple random sampling and \bar{Y} based on the clusters with selection probabilities proportional to cluster size are unbiased under the non-adaptive designs. In this Section some estimators are given that are unbiased with the adaptive cluster sampling design discussed in this paper. These unbiased estimators do not depend on any assumptions about the population.

Let S denote the set of all possible samples. The expected value of an estimator t is defined in the design sense and is defined as,

$$E(t) = \sum_{s \in S} t_s p(s|y), \quad (3.1)$$

where t_s is the value of the estimate for the sample s .

3.1 The Initial Sample Mean

If the final sample of the proposed design is selected in the first phase only, the estimator of population mean μ is unbiased as simple random sample mean is always unbiased estimator of μ for finite population. This estimator ignores all units adaptively added to the sample.

Let y_i is the y -value of the i^{th} unit, an unbiased estimator of μ based on the initial sample is

$$t_1 = \frac{1}{n} \sum_{i=1}^n y_i \quad (3.1.1)$$

$$Var(t_1) = \frac{N-n}{Nn} S^2, \quad (3.1.2)$$

$$\text{Where, } S^2 = \frac{1}{N-1} \sum_{i=1}^N (\bar{Y}_i^* - \mu)^2$$

where σ^2 is the population variance.

3.2 An Estimator Based on Initial Intersection Probabilities

If we know the inclusion probability π_i that unit i is included in the sample s for all the sampled units, we can use the Horvitz-Thompson estimator, given by

$$\hat{\mu}_{HT} = \frac{1}{N} \sum_{i \in s} \frac{y_i}{\pi_i} = \frac{1}{N} \sum_{i=1}^N \frac{y_i I_i}{\pi_i}, \quad (3.2.1)$$

where I_i is the indicator variable which takes the value 1 when unit i is included in the sample and 0 otherwise. Unfortunately, although m_i is known in (2.1) for all the units in s , but some of the a_i 's are

unknown. For example, if unit i is an edge unit for some clusters in the sample, then all the clusters in which it belongs to, would not generally be sampled, so that a_i will be unknown for those clusters. To get around this problem Thompson (1990) dropped a_i from π_i and considered the partial inclusion probability

$$\pi'_i = 1 - \frac{\left[\frac{(N-m_i)}{n} \right]}{\left[\frac{N}{n} \right]} \quad (3.2.2)$$

Thus observations that do not satisfy the condition C are ignored if they are not included in s_1 . He used the sample of n networks (some of which may be same), rather than the n clusters, for estimating μ . The probability π'_i can then be interpreted as the probability that the initial sample s_1 intersects A_i , the network for unit i .

The unbiased estimator t_2 based on the initial intersection probabilities takes the form

$$t_2 = \frac{1}{N} \sum_{i=1}^N \frac{y_i I'_i}{\pi'_i}, \quad (3.2.3)$$

where I'_i takes the value 1 (which probability π'_i) if s_1 intersects A_i , and 0 otherwise.

It is more convenient to write the summation part of the estimator t_2 in (3.2.3) in terms of the distinct networks, as the intersection probability π'_i is same (=

α_k , say) for each unit i in the k^{th} network.

Hence

$$t_2 = \frac{1}{N} \sum_{k=1}^K \frac{y_k^* J_k}{\alpha_k} = \frac{1}{N} \sum_{k=1}^{K'} \frac{y_k^*}{\alpha_k}, \quad (3.2.4)$$

where y_k^* is the sum of the y -values for the network k , K is the total number of distinct networks in the population, K' is the number of distinct networks in the sample s , and J_k takes a value of 1 (with probability α_k) if the initial sample intersects the network k , and 0 otherwise. If there are x_k units in the network k , then

$$\alpha_k = 1 - \frac{\binom{N-x_k}{n}}{\binom{N}{n}} \quad (3.2.5)$$

Also letting $p_{jk} = P(j^{th} \text{ and } k^{th} \text{ network not intersected})$, then

$$p_{jk} = P(J_j \neq 1 \cap J_k \neq 1) = \frac{\binom{N-x_j-x_k}{n}}{\binom{N}{n}} \quad (3.2.6)$$

Therefore the probability that the networks j and k are both intersected is

$$\begin{aligned} \alpha_{jk} &= P(J_j = 1 \cup J_k = 1) \\ &= P(J_j = 1) + P(J_k = 1) - P(J_j = 1 \cap J_k = 1) \\ &= \alpha_j + \alpha_k - (1 - p_{jk}) \end{aligned}$$

Or

$$\alpha_{jk} = 1 - \frac{\left[\binom{N-x_j}{n} + \binom{N-x_k}{n} - \binom{N-x_j-x_k}{n} \right]}{\binom{N}{n}} \quad (3.2.6)$$

With the convention that $\alpha_{jj} = \alpha_j$, the variance of t_2 is

$$Var(t_2) = \frac{1}{N^2} \left[\sum_{j=1}^K \sum_{k=1}^K y_j^* y_k^* \left(\frac{\alpha_{jk} - \alpha_j \alpha_k}{\alpha_j \alpha_k} \right) \right] \quad (3.2.7)$$

An unbiased estimator of the variance of t_2 is

$$\begin{aligned} \hat{Var}(t_2) &= \frac{1}{N^2} \left[\sum_{j=1}^K \sum_{k=1}^K y_j^* y_k^* \left(\frac{\alpha_{jk} - \alpha_j \alpha_k}{\alpha_j \alpha_k} \right) J_j J_k \right] \\ &= \frac{I}{N^2} \left[\sum_{j=1}^{K'} \sum_{k=1}^{K'} y_j^* y_k^* \left(\frac{\alpha_{jk} - \alpha_j \alpha_k}{\alpha_j \alpha_k} \right) \right], \quad (3.2.8) \end{aligned}$$

provided that none of the joint probabilities α_{jk} is zero.

Just as the Horvitz-Thompson estimator has small variance when the y -values are approximately proportional to the inclusion probabilities, the estimator t_2 should have low variance when the network totals y_k^* 's are proportional to the intersection probability α_k .

3.3 Improvement of the Estimators Using the Rao-Blackwell Method

The estimators t_1 and t_2 of μ are although unbiased but are not the function of the minimal sufficient statistic, and so each may be improved by the Rao-Blackwell

theorem by taking conditional expectation, given the minimal sufficient statistic. For finite population Basu (1969) suggested that the minimal sufficient statistic D is the unordered set of distinct, labelled observations, that is,

$$D = \{(k, y_k) : k \in s\}.$$

Starting with any one of the unbiased estimators $t_{RB} = E(t|D)$. Let n' denote the number of distinct units in the final adaptive sample s . If the initial sample s_1 is selected without replacement, define

$$G = \binom{n'}{n}, \text{ the number of possible}$$

combinations of n distinct units from the n' in the sample. Suppose that these combinations are indexed in an arbitrary way by the label g ($g = 1, 2, \dots, G$). Let t_g denote the value of t when s_1 consists of combination g and let $\hat{Var}_g(t)$ denote the value of the unbiased estimator $\hat{Var}(t)$, when computed using the g^{th} combination.

An initial sample that gives rise through the design to the given value D of the minimal sufficient statistic is called compatible with D . Let the g^{th} indicator variable (I_g) takes the value 1 if the g^{th} combination could give rise to D (i.e., is compatible with D), and 0 otherwise. The number of compatible combinations is then

$$\xi = \sum_{g=1}^G I_g \quad (3.3.1)$$

Now the estimator t may be improved using Rao-Blackwell theorem and is the

average of the values of t obtained over all those initial samples that are compatible with D . This improved estimator t_{RB} is

$$t_{RB} = E(t|D) = \frac{1}{\xi} \sum_{g=1}^{\xi} t_g$$

Or

$$t_{RB} = \frac{1}{\xi} \sum_{g=1}^G t_g I_g \quad (3.3.2)$$

and its variance is given by

$$Var(t_{RB}) = Var(t) - E[Var(t|D)] \quad (3.3.3)$$

An unbiased estimator of the variance of t_{RB} due to Thompson (1990) is given by

$$\hat{Var}(t_{RB}) = \frac{1}{\xi} \sum_{g=1}^G \left[\hat{Var}(t_g) - (t_g - t_{RB})^2 \right] I_g \quad (3.3.4)$$

REFERENCES

- Basu, D. (1969). Role of the Sufficiency and Likelihood Principle in Sample Survey Theory. *Sankhya* 31(A), 441-454.
- Chandra, G., Tiwari, N. and Chandra, H. (2011). Adaptive Cluster Sampling Based on Ranked Sets. *Advances in Methodology and Statistics*, 8(1), 39-55.
- Roesch, F.A., Jr. (1993). Adaptive Cluster Sampling for Forest Inventories. *Forest Science* 39, 655-669.
- Thompson, S.K. (1990). Adaptive Cluster Sampling. *Journal of the American Statistical Association* 85, 1050-1059.
- Thompson, S.K. and Seber, G.A.F. (1996). Adaptive Sampling, Wiley, New York.

Gums and resins in social and livelihood need's of tribals of central India

Dr. Rajiv Rai

Tropical Forest Research Institute, Jabalpur

Introduction

India is a country which has tremendous diversity among ethnic communities, flora and fauna stretching from temperate Himalayas in the North of our country to the Nilgiris and tropical rain forests in the Western Ghats in the south, from wet rain forests in the East to Thar deserts in the West. In our country, there are about 550 tribal communities belonging to 227 ethnic group (Mahsehwari, 1996) derived from six racial stocks named as – Negrito, Proto-Australoid, Mongoloid, Mediterranean, Western Braehy Cephal and Nodic. These tribes comprise nearly 22 percent of the world's indigenous people and 7.7 percent of India's population, covering about five thousand villages out of five lakhs villages in India. Some of these tribes in India are the most primitive human societies in the world depending completely on the forest for their survival and they live in complete harmony with nature. In Sal forests of our country, several tribes such as Khasi, Tharus, Bhoksa, Bhotias, Kolta, Mikir, Garo, Tripuri, Hill Khariya, Oraon, Santhal, Birhor, Saura. Hos, Kol, Koya, Juang, Khairwar, Kamar, Halba, Tharu,

Khond, Bonda, Hill Korwa, Gond and Baiga have predominance in different Sal growing states of our country (Bapat, 1950). These



Gum Product

tribes have been living in harmony with the nature since long in sal forests of India. In earlier times, survival of man was totally dependent on herbs, shrubs and trees of the localities where he used to live. Since early Stone Age man is dependent on plants as food, shelter, medicine, household goods etc. Several plants are being used by tribals and other local people who are inhabiting in the forest localities and around its surrounding. Various plants and their parts are being used for worship, edible purpose, construction of house, agricultural implements, extraction of dyes, collection of gums and various medicinal uses by different tribes who are residing in forests of Madhya Pradesh since last several

hundred of years. About forty - two tribes are settled in forests of Madhya



Gum Tapping

Pradesh. The state of Madhya Pradesh is situated almost in the heart of Indian Peninsula and has largest concentration for tribal population, about 28% of the total state's population and Chhattisgarh accounted for 70&&% of their population as tribals. (Anon, 2001; Maheshwari, 1996, Rai 2004). **Baiga tribe** – is the most primitive tribe found in districts of Dindori, Mandla, Shahdol, Umariya, Sidhi & Balagaht districts (Rai, 2004; Rai et.al. 2004 b). Bhariya tribes of satpura plateau in Patalkot valley usescoolects gum from different tress growing in region and are used for medicinal uses (Rai et.al. 2004a; Rai et.al. 2004c; Rai 2005).

Gums and resins occupy a prime place among NWFP's. Gum originates from a wide variety of plants and contains sugar and carbohydrates. The important gum yielding trees are *Acacia nilotica* (Babul) , *A. catechu* (Khair), *Anogeissus latifolia* (Dhaura), *Butea monosprma* (Palas) , *Bauhinia retusa* (Semal) , *Lannea*

coromandelica (Lendia) , *Sterculia urens* (Kullu) *Pterocarpus marsupium* (Bija sal) *Shorea robusta* (sal) and *Azadiracta indica* (Neem) . Throughout the country there is wide distribution of species which yield gum and resins and the total export of the tapped material is up to the tune of 700 carores.

Method and Material:

The study was conducted in tribal pockets of sal region in Central India on ethno-botanical uses of plants and plant parts used in collection of gum and various uses recorded from Baiga, Bhariya, Gond, Halba, Maria, Pardhi, Oraon and Hill korwa tribes during the period 2001-2005 in states of Madhya Pradesh and Chhattisgarh .The information is recorded on collection of gum from various tribes and their uses along with uses of gum and gum- resins in herbal medicines .The methodology followed in the proposed study was as recommended by Jain (1963) & Maheshwari (1996) The data recorded is tabulated below.



Gum Tapping

Result and Discussion

The paper discusses on collection of gums from various sources along with their uses and their sale for income generation and medical uses as prevalent among tribal communities in Central India, the information is enumerated as below.

Collection of Gum, Tannin and resins from plants and trees and their sale in weekly market to private traders for income generation:

Gum is used for edible purpose in variety of preparations such as sweets (laddu), manufacture of water colour, as binding agent in preparation of face powder and as important ingredient in medicine, preparation of glycerin, textile, soaps,

creams, cosmetics etc. Gum is collected by tribals from trees of *Acacia catechu Willd* (Khair, Family – Mimosaceae), *A. nilotica* (Linn.) Del, *A. senegal* (L.) Willd. (Gum arabica, Family – Mimosaceae), *Azadirachta indica* A. Juss Neem, Family – Meliaceae) and *Butea monosperma* (Lamk) Kuntze (Palas, Family- Fabaceae). The women -folk of the tribes play an important role and collect gums and use them for various purposes. .Gum collected is sold in weekly market to traders for income –generation by tribal communities. The gum collected from Babul tree is used for edible purpose. The gum is collected from various trees as presented in table 1. The womenfolk collect heartwood of khair

Table 1 : Plant Species used by tribes for Collection of Gum

S.No.	Local Name	Generic Name	Family	Plant part used	Tribes associated in collection of gum	Economical uses
01.	Babul	<i>Acacia nilotica</i> (Linn.) Willd.	Mimosaceae	Bark	Baiga	Desi gum used for edible purpose.
02.	Khair	<i>Acacia catechu</i> Willd.	Mimosaceae	Bark, Stem	Bhariya	Gum is used for manufacture of varnish and medicines.
03.	-	<i>Acacia senegal</i> Linn	Mimosaceae	Bark	Pardhi	Gum is used in demulcent and emulsifying agent
04.	Sal	<i>Shorea robusta</i> Gaerth.	Dipterocarpaceae	Bark	Baiga, Oraon	Gum is used in Ceremacis.
05.	Neem	<i>Azadirachta indica</i>	Meliaceae	Bark	Hill Korwa	Gum is used as adhesive.

		A. Juss.				
06.	Palas	<i>Butea monosperma</i> (Lam.) Tuab.	Fabaceae	Bark	Gond, Maria	Gum is used for medicinal purposes.
07	Dhawa	<i>Anogeissus latifolia</i> Wall.	Combretaceae	Bark	Baiga, Gond	Gum ghatti is being used in paper industry and calico printing.



Korku tribes in Madhya Pradesh

and dhawa. These minor forest products are sold to private traders in weekly market for income generation. Collection of gum from Sal forests generates income to a population of 15 lakhs individuals and the business is to the tune of Rs. 12-15 lakhs (Tewari, 1981).

Gum resins extracted from medicinal plants agent is presented in table 2a and as anti fertility used as fertility inducing agent. **Baiga tribes of** agent in is presented in table 2b.

Table 2a Gum used as fertility inducing agent

S.No	Species	Common Name	Family	Method of use	Use in herbal medicine.	Tribe Associated.
1	<i>Butea monosperma</i> (Lam) Kuntze Species is a moderate tree.	Palas	Fabaceae	Gum resins exudated from the bark of the tree is collected by tribals. This gum – resin is applied 2-3 times daily in the uterus (womb) of women	Fertility inducing agent	Baiga tribe of Dindori, MP & Gond tribe Chhattisgarh

of Dindori district, Madhya Pradesh and **Gond tribes** of Bastar, Chhattisgarh state collects gum resin from tree species growing in dense forest and use them as fertility inducing agent. Tribals collect gum resins exudates from *Butea monosperma* (Lam) Kuntze from the bark of the tree. This gum –resin is applied 2-3 times daily in the uterus (womb) of women to strengthen female organs. Regular application of gum resins induces enzyme activity and makes the environment alkaline an favourable for sperm to fertilize ova for formation of zygote and thus restores fertility in women who had earlier failed to conceive (Rai, 2005) The method for use of gum as fertility

				to strengthen female organs. Thus Baiga and Gond tribes regulate their population by inducing fertility and gum acts as fertility agent		
--	--	--	--	--	--	--

Table 2-b Gum used as anti- fertility inducing agent.

S.N	Species	Common Name	Family	Method of use	Use in herbal medicine	Tribe Associated
1	<i>Butea monosperma</i> (Lam) Kuntze Species is a moderate tree.	Palas	Fabaceae	Gum exudates from bark of the tree collected Dose: About 5-6 gms of gum collected from bark of trees and are mixed with cow –milk. This milk mixed with gum is regularly administered orally to women, early in the morning empty stomach right from the first day after mensus for consecutive three days. Use It is said that by drinking such milk some enzymatic activity takes place in women which prevents or inhibits conception. It is reported by tribals that this treatment purifies blood and destroys pathogen and acts as herbal contraceptives which avoids pregnancy.	Anti-Fertility inducing agent	Baiga tribe of Dindori, MP & Gond tribe Chhattisgarh

Medicinal Use

In the twenty first century a search has been made for plants used as anti-fertility and fertility inducing plants among the cross –section of the people of our modern society as per their need. It has been considered that herbal plants drugs are



Baiga tribes in Madhya Pradesh

cheaper and safer contraceptives without any side effects. Practitioners of herbal medicines still enjoyed some popularity among certain section of the society. A section of such indigenous people locally known as vaidys, ojhas and traditional herbal healer had attained a high degree of perfection in use of fertility inducing as well as fertility inhibiting herbal medicines and drugs. A large section of the society contacts them to meet their local needs by using herbal drugs. (Rai, 2005; Rai and Nath, 2005; Rai et.al. 2002 Rai et.al. 2003). the medicinal uses as recorded by different tribes are presented in table -3.

Table 3 Use of Gum and Gum –resins in herbal medicines with different tribal communities.

S.No	Species		Part	Tribes associated	Medicinal use
1.	<i>Butea monosperma</i> (Lamb.) Taub	Palas	Bark-Gum Resins	Bhariya tribe	The Bhariya tribes use leaf decoction prepared from <i>Lippia nodiflora</i> Mich mixed with gum exudated from <i>Butea monosperma</i> and decoction is given twice a day to cure menstrual disorder
2	<i>Butea monosperma</i> (Lamk.) Taub	Palas	Bark-Gum	Bhariya tribe	Mode of preparation drug: Gum exudates are collected from bark trees of <i>Butea monosperma</i> (Lam.) Kuntze and stored in dry and cool place. The gum bark is mixed with water used as drug. Dosages and cure of ailment : The gum bark mixed with water is given 3-4 times orally along with half cup of water at an interval of 2 hours for three to five days to patient suffering from dysentery
3	<i>Acacia catechu</i> Linn	Khair	Gum	Oraon & Hill korwa tribe	Gum collected is applied for healing of wound due to scorpion sting

4	<i>Acacia nilotica</i> Willd.	Babul	Gum	Baiga Tribe	Gum collected is boiled with little water and applied on body parts to subside pain and swelling
5	<i>Butea monosperma</i> (Lamk.) Taub	Palas	Gum	Pardhi tribes	Gum exudates are collected and orally consumed by patients suffering from diarrhea and dysentery.
6	<i>Commiphora mukul</i> Engl.	Guggul	Gum	Maria and Gond	Gum is applied on wound due to snake bite for healing
7	<i>Pterocarpus marsupium</i>	Bijasal	Gum	Bhariya tribe	The gum collected is applied to cure toothache, fever and urinary discharge in women.

Resin yielding plants

Resins are used in preparation of medicines, sealing waxes and manufacture



Documenting information from Bhariya tribes of MP of varnish. Resins are extracted from plants of *Azadirachta indica*, *Cochlospermum religiosum* (L.) Alston (Galgul or Gaddu, Family Cochlospermaceae) and *Lannea coromandelica* (Houtt.) Merr. (Lendia, Family – Anacardiaceae). These resins are sold by tribals in local weekly market for their income generation to meet social and livelihood needs.

Discussion

The newly formed Jharkhand state has pre-dominance of 21 tribal communities out of

which Munda, Ho Oraon, Santhal, Korwa, Lohra, Maha pahria are some of the prominent tribes found in the region. These tribals have to depend on indigenous techniques for collection and tapping of gums and resins and they also sell them in their local market as tribals of Sal region in Central India sell in local markets with low income generation. It is suggest there is need to create awareness among tribals utilizing extension techniques such as mass media approach, nukkad natak and wide publicity to be given through posters and organizing training programmes as scientific institutions and expertise exists in Jharkhand state, which is lacking in other



Documenting information from Vaidraj in MP

states, for effective methods and techniques evolved in tapping of gums with non destructive harvesting methods, so as to obtain continuous supply of gum from existing flora for sustainable production of gum and resins, processing to enhance value addition and earn higher market returns and export value to earn foreign exchange and may funds generated be utilized for conservation of diversity to be utilized by froth-coming generation for future use.



Documented information from Gond Tribes in Madhya Pradesh

Conclusion

Gum and resins collected from different trees play a key role in social and livelihood needs of tribal communities and are commercially very important and they need value addition to improve their marketability, availability, sustainability and adoptability of modern techniques to improve quality tapping with non destructive harvesting and earn higher export value.

References

- Anon. 1972 The wealth of India Raw Material, Vol IX: 313-321, CSIR, New Delhi.
- Anon. 1989 Nationl Seminar on Minor forest produce and tribal development held at Tropical Forest Research Institute, Jabalpur. (Oct. 1989).
- Anon. 1990 Indian timbers for door and windows shutters and frames - Classification, IS: 12896, Manak awan, Bureau of Indian Standards, New Delhi.
- Bapat, N.V. *The Baigas*. Tribes of India (Pub. BhartiyaAdamjati sevak sangh, New Delhi 1950): 41-44.
- Jain, S.K. 1963, Observation on Ethno botany of tribals of M.P. *Vanyajati* 11(4): 177-187.
- Jain, A.K. (1988). Tribals Glans in Central India and their role in conservation. *Env. Conserv.* 1: 368-369.
- Maheshwari, J.K. 1996, Ethno botanical documentation of primitive tribes of Madhya Pradesh. *J.Eco.Taxon.Bot. Additional series*: 206-213.
- Rai Rajiv, V. Nath and P. K. Shukla. (2002). "Ethno-medicinal studies on Bhariya Tribes in Satpura plateau of Madhya Pradesh. *Agriculturist* 13 (1 & 2): 109 -114.
- Rai Rajiv, V. Nath & P.K.Shukla. (2003). *Ethnobiogy of Hill Korwa Tribes*

- Chhattisgarh *Journal of Tropical Forestry*, SFRI, Jabalpur. 19 (1&2): 35-46.
- Rai, Rajiv. (2004). *Madhya Pradesh ke adivasiva Van aushadhi ka prayog*, Arnayotsav pp: 19-20
- Rai Rajiv , V. Nath & P.K.Shukla. [2004(a)]. Ethno botanical studies in Patalkot Valley in Chhindawara district of Madhya Pradesh. *Journal of Tropical Forestry*, SFRI, Jabalpur. 20 (2): 38-50.
- Rai, Rajiv, V. Nath & P.K.Shukla. [2004 (b)]. Characteristics and Ethno botanical studies on Primitive tribes of Madhya Pradesh” In Govils (edited) “*Recent progress in Medicinal Plants*” ‘Chapter Ethno- medicine and Pharmacognosy’ Publisher: Researcho Book Centre, New Delhi: 8 (37): 543– 552: pp.
- Rai, Rajiv, V.Nath & P.K.Shukla. [2004(c)]. Ethno biological studies on Bhariya tribes of Madhya Pradesh *J. of Tropical Forestry* 20 (1) :150-160
- Rai, Rajiv. (2005). Herbal medicines in cure of prevalent diseases in tribal pockets of Madhya Pradesh. In *Abs National Symposium on emerging Technologies , and their application, in Assessment, Conservation and Management of Threatened wild medicinal plants and their habitat* 23-24 Feb .2005, SFRI , Jabalpur, 67-68 : pp .
- Rai, Rajiv [2005 (a)]. Some lesser known oral herbal contraceptives in folk claim in Bastar region of Chhattisgarh. *Journal of Natural Remedies*, 5 (2): 153-159.
- Rai, Rajiv and V. Nath. [2005 (b)]. Use of Medicinal Plants by traditional herbal healers in Central India. *Indian Forester*: 13 (3): 463-468.
- Rai, Rajiv and V. Nath. (2006.) Use of indigenous herbal medicinal plants by Gond traditional healers in cure of skin diseases in Bastar region of Chhattisgarh. In P .C. Trivedi (edited) *Medicinal Plants and Traditional Knowledge*, Publisher: I.K.International Pub. House, New Delhi. 229-235: pp.
- Tewari D.N. 1981 Sal Trading in Forest Produce in India, Jugal Kishore and company, Rajpur road, Dehra Dun.
- Tewari, D.N. 1984 Primitive Tribes of Madhya Pradesh. Strategy for Development, GOI New Delhi. pp: 31-39
- Tiwari, S.K. 1997. Baigas of Central India. (Pub. Anmol Publication Pvt. Ltd. New Delhi.) pp: 55-59.

Know your biodiversity

Swaran Lata and Dr. P.B. Meshram
Tropical Forest Research Institute, Jabalpur

Grus antigone



Grus antigone is commonly known as Sarus Crane. Common name of Sarus is derived from Sanskrit word 'Sarasa' means 'lake bird'. It is only resident breeding Crane in India and Southeast Asia. Sarus Crane is the largest bird of India and the tallest flying bird of the world. Plains of northern, north-western, western India and the western half of Nepal's Tarai lowlands are current range of the Indian Sarus Crane. Sarus Crane is the state bird of Uttar Pradesh. In India they are considered symbols of marital fidelity because they paired for life.

It is a large, long-legged and long-necked bird which belongs to order Gruiformes family Gruidae. It is easily distinguish from other cranes by overall grey color and contrasting red head and upper part of neck. Sarus crane generally found near

wetlands, dry grasslands, forest and uncultivated patches along with rice fields. It flourishes well in harmony with men and agricultural landscape. In the Indian subcontinent, populations make seasonal movements in response to monsoons and droughts. Sarus Crane breeds in rainy season from July-October and lays 1-2 eggs.

Degradation of wetlands, use of pesticides and fertilizers, industrial effluent, deforestation, river basin alteration, change in agricultural practices, hunting, collection of eggs and chicks for trade, food and medicinal purposes are great concern for rapidly declining population of *Grus antigone*.

Due to the rapid decline in population this species is considered globally threatened and given vulnerable status by (Bird Life International 2012). It is listed on Appendix II of CITES and Appendix II of the Convention on Migratory Species. *Grus antigone* are biological indicators of ecosystem and their presence shows good wetlands. Hence formulation of appropriate protection measures and Conservation awareness campaigns is very necessary for its conservation.

Mucuna pruriens



Mucuna pruriens is one of the most popular medicinal plants of India and is constituent of more than 200 indigenous drug formulations. *Mucuna pruriens* is commonly known as Cow-age, Cowitch, Cowhage, Velvet bean, Alkushi. It is wide spread in tropical and subtropical regions of the world. The name of the genus is derived from the word 'mucuna'.

Cowitch belongs to family Fabaceae. It is a twinning annual herb. Leaves are trifoliate. Flowers are dark purple, white or lavender colour. Pods are curved, 4-6 seeded and covered with pale brown trichomes. Protein mucunain and serotonin are chemical compounds responsible for extreme itchiness on contact with skin. Seeds are ovoid, shiny black or brown. Flowering and fruiting season is September-October.

Cowitch is used since ancient time to cure Parkinson's diseases and still in uses. Roots, leaves and seeds of the plant are commonly used in the treatment of impotence, snake bite, diabetes, cancer, arthritis, joint and muscle pain, abortions, kidney stones, menstrual disorders, nervousness, asthma, burns, cholera, cough, paralysis, intestinal worms, and aphrodisiac. Stinging hairs outside the seed pods are used in formulation of itching powders. In India, the mature seeds of Mucuna bean are traditionally consumed by a South Indian hill tribe Kanikkars after repeated boiling.

Mucuna pruriens is assessed as of least concern (LC) according to IUCN (2001) criteria. Today demand of *Mucuna pruriens* is very high in local and international market because of its medicinal properties and presence of chemical L-3, 4-dihydroxy phenyl alanine in seeds which is used to increase dopamine concentration in Parkinson's disease. In many parts of the world it is also used as forage, green manure and biological control of nematodes in soil.

Tropical Forest Research Institute



Published by:



Tropical Forest Research Institute

P.O. RFRC, Mandla Road

Jabalpur – 482021 M.P. India

Phone: 91-761-2840484

Fax: 91-761-2840484

E-mail: vansangyan_tfri@icfre.org

Visit us at: <http://tfri.icfre.org> or <http://tfri.icfre.gov.in>